सचित्र भर्तृहरि शतक

वैराग्य शतक
नीति शतक
श्रृङ्गार शतक

हिन्दी अनुवाद सहित

भर्तृहरि शतक

२४ चित्रों सहित

विशिष्ट संस्करण

सचित्र भर्तृहरि शतक

वैराग्य शतक
नीति शतक
श्रृंगार शतक

हिन्दी अनुवाद सहित

साधु-संन्यासी, गृहस्थी, प्रौढ़ और नवयुवकसभी को सम्मान रूप से प्रेरणा दे सकने वाली भारतीय वाङ्मय की अमर कृति !

सचित्र भर्तृहरि शतक

वैराग्य शतक
नीति शतक
शृंगार शतक

तीनों विषयों पर सार गर्भित सौ-सौ श्लोक
हिन्दी अनुवाद सहित

भूमिका व भर्तृहरि जीवन चरित्र—रणधीर सिंह
हिन्दी अनुवाद—पं० ज्वाला प्रसाद चतुर्वेदी

मूल्य—२०-००

प्रकाशक :
रणधीर बुक सेल्स (प्रकाशन)
हरिद्वार

प्रकाशक—

रणधीर बुक सेल्स (प्रकाशन विभाग)
१८२, एस० एन० नगर समीप हैप्पी स्कूल
हरिद्वार (भारत)

मुद्रक—

ओम प्रिंटिंग प्रेस,
३६०५, दाईवाड़ा, नई सड़क, दिल्ली-६

अनुवादक—

पं० ज्वालाप्रसाद चतुर्वेदी

मूल्य—२०-००

तृतीय संस्करण १६८३
चतुर्थ संस्करण १६८५
पंचम संस्करण १६८७
षष्ठम संस्करण १६८६

© रणधीर बुक सेल्स (प्रकाशन) हरिद्वार

भूमिका

श्री भर्तृहरि का यह ग्रन्थ केवल उपदेशात्मक काव्य ही नहीं है। वैराग्य शतक परमार्थ जीवन से, नीति शतक सामाजिक जीवन से और श्रृङ्गार शतक व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित है। प्रत्युत तीनों को मिलाकर एक 'जीवन दर्शन' बनता है। वास्तव में भर्तृहरि इस ग्रन्थ के माध्यम से सार्वभौम आदर्श 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' को प्रतिपादित करने में पूर्ण रूप से सफल हुए हैं। तीनों शतकों का सामाजिक जीवन से सीधा सम्बन्ध है। समाज के अभाव में नीति, श्रृङ्गार तथा वैराग्य यह तीनों शब्द ही निरर्थक हो जाते हैं। तीनों ही मानव जीवन के समग्र विकास के लिए आवश्यक भी हैं। अतएव भर्तृहरि त्रयशतक को ही दूसरे शब्दों में 'समाज शास्त्र' की संज्ञा भी दी जा सकती है। इसी एक पुस्तक में संसार का सारा साहित्य समाहित हो रहा है।

इस भर्तृहरि शतक की महानता किसी भी तरह श्रीमद्भगवद्गीता या रामायण से कम नहीं है। परन्तु महानता और बात है और प्रसिद्धि कुछ और! वास्तविकता तो यह है कि महाकवि कालिदास न होते तो विक्रमादित्य को कौन जानता और आदि कवि महर्षि बाल्मीकि न होते तो राम का नाम कौन लेता? लेकिन राजाओं और धनवानों के साथ-साथ विद्वानों को भी जिसने लताड़ा हो उस भर्तृहरि के नाम को कौन उजागर करता?

लेखक ने सौ-सौ श्लोकों के द्वारा जीवन के अनुभवों का जो सार प्रस्तुत किया है वह 'त्रिकाल सत्य' है; जो समाज के लिए सर्वदा आवश्यक है, अनिवार्य है और तीनों लोकों में फैला हुआ है। वैराग्य की प्रवृत्ति मानव मात्र के लिए स्वर्गारोहण और अमृतपान का आह्वान है। कौन है जो अमृतपान के लिए लालायित न हो? कौन है जो सौन्दर्य पर मुग्ध न हो? स्वर्ग की लालसा लेकर आकाश में उड़ो या सौन्दर्य का भ्रम लेकर

संसार का भ्रमण करो पर ध्यान रहे कि पांव नैतिकता से डिगे नहीं। नीति से गिरे नहीं कि संसार और स्वर्ग दोनों से हाथ धोना पड़ेगा। हमारा लक्ष्य होना चाहिए वैराग्य द्वारा 'परमानन्द' की प्राप्ति और अखण्ड सौन्दर्य प्रियता के बिना वैराग्य की साधना असम्भव है। संसार सुन्दर है उससे भरपूर प्रेम करो तुम प्रेम की पैदावार हो और प्रेम की पूजा करो लेकिन यह तभी हो सकता है जब तुम नीतिमान बनो। भर्तृहरि की शिक्षा का दो शब्दों में निचोड़ यही है कि नीति जीवन की आधारशिला है, शृङ्गार जीवन का सौन्दर्य है और वैराग्य जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। इन तीनों के समन्वय के बिना जीवन अपूर्ण है। अत: मानव जीवन के सभी अंगों और उनमें निहित भावनाओं की अभिव्यक्ति का यह उत्तम ग्रन्थ है।

कुछ लोग शृङ्गार शतक पर नाक-भौं सिकोड़ते हैं, उनकी यह धारणा है कि उससे विलासी जीवन जीने की प्रेरणा होती है, लेकिन ऐसी बात नहीं है। भर्तृहरि ऋषि की दृष्टि रखने वाले राजा थे। योग और भोग दोनों ही उनमें समन्वित थे। गीता और उपनिषद युवकों को प्रेरणा नहीं दे सकते लेकिन उद्रेक पूर्ण युवा हृदय में भर्तृहरि शतक सीधा प्रवेश करता है और पुरुषार्थ की प्रेरणा दे सकता है। तीनों लोकों में विख्यात पतित पावनी गंगा जिस प्रकार हिमशिखर से प्रवाहित होकर आर्यावर्त की पुण्य भूमि को पल्लवित कर असीम सागर में लीन हो जाती है उसी प्रकार भर्तृहरिशतकत्रय नैतिकता से किशोर वर्ग का चरित्र निर्माण कर, युवकों को सौन्दर्य प्रियता के राजमार्ग पर अग्रसर करके वृद्धावस्था में वैराग्य की वीरगति प्रदान करता है।

जीवन के जो चिरन्तन सत्य का अविर्भाव इन शतकों में हुआ है इसीलिए इसका मूल्य भी चिरन्तन है। जीवन में बहुमूल्य-प्रदायक जिस किसी भी अनुभव को महान व्यक्ति अपनाते हैं वही धर्म का आधार होता है अतः भर्तृहरि के अनुभूत-ज्ञान-भण्डार के यह तीनों शतक भी मानव धर्म के लिए आधार भूत हैं। भर्तृहरि के श्लोक जैसे पठनीय हैं वैसे ही आचारणीय भी हैं। कहना न होगा कि भर्तृहरि शतक की यह अमर कृति किसी

भी दृष्टि से संसार की इनी-गिनी उत्कृष्ट कृतियों में से है। अतः यह ग्रन्थ गम्भीर अध्ययन की अपेक्षा रखता है और गम्भीर चिन्तन की भी। पाठक यदि गहराई से अवगाहन करेंगे तो उन्हें इसमें से अनमोल रत्न प्राप्त होंगे।

इस पुस्तक के पूर्व परिचित पाठक शायद इस संस्करण में वैराग्य शतक को सर्वप्रथम देखकर कुछ आश्चर्य करें कि जीवन के क्रमानुसार बाल्यकाल में नीति सीखकर युवा होने पर शृङ्गार में लिप्त होकर अन्त में वृद्धावस्था को प्राप्त होने पर ही व्यक्ति वैराग्य की ओर उन्मुख होता है। भर्तृहरि के काल और आज के समय के अन्तर को देखकर हमने अपने जीवन के लक्ष्य 'वैराग्य' को आगे रखा है। समाज आज की वैज्ञानिक चकाचौंध के आगे अपने इस सांस्कृतिक लक्ष्य 'वैराग्य द्वारा परमानन्द की अनुभूति' को भूलता चला जा रहा है। हमारे जीवन का वास्तविक लक्ष्य यही होना चाहिए और शेष जीवन गौण। वैसे भी भर्तृहरि के वैराग्य शतक ने सबसे अधिक सम्मान पाया है अतः उसे सर्वप्रथम स्थान दिया गया है।

भर्तृहरि के इस मौलिक चिन्तन और उनकी समाज को यह अप्रतिम देन पर मैं उनका अभिनन्दन करता हूँ और आशा है कि प्रत्येक शिक्षित परिवार में यह ग्रन्थ आदर पायेगा और चाव से पढ़ा जायेगा।

—रणधीर सिंह

श्री भर्तृहरि जीवन चरित्र

श्री भर्तृहरि भारतीय संस्कृति के ध्रुव तारा हैं। मानव प्रकृति को यथावत् प्रस्तुत करते हुए, मनुष्य के जीवन का आदर्श मार्ग प्रशस्त करने में उनके ये शतक अनन्त काल तक समाज को प्रेरणा देते रहेंगे। इसी मानवीय दृष्टिकोण से महाराजा भर्तृहरि को सारे विश्व का आदर प्राप्त है।

भर्तृहरि को जनता 'महाराजा भर्तृहरि' के नाम से पहचानती है। आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भारतवर्ष की राजधानी उज्जयनी थी। जिसे आजकल उज्जैन कहते हैं। मालवा प्रान्त के महाराजा भर्तृहरि परमार वंशज थे और राजा विक्रमादित्य उनके छोटे भाई थे। प्रजावत्सल महाराजा भर्तृहरि महान् विद्वान्, अद्वितीय कवि, वैयाकरणिक, दार्शनिक, पुरातत्वानुसंघाता, तत्ववेत्ता, तथा प्रकृति परीक्षण निपुण थे और उनकी न्याय प्रियता और प्रजाहितैषिता की चर्चा सारे भारत में थी। राजा के धर्मपरायण होने के कारण प्रजा भी धर्मात्मा थी। ठौर-ठौर पर यज्ञ और हवन होते थे। न्याय, नीति और धर्म पर चलने वालों के लिए महाराज जितने दयालु थे उतने ही दुष्ट और अन्यायियों के लिए कठोर भी! सारांश ये है कि महाराजा को सभी उत्तमोत्तम राजोचित गुण विधाता ने दिये थे।

भर्तृहरि के छोटे भाई राजकुमार विक्रम भी बड़े भाई की तरह विद्वान्, न्यायपारायण, धर्मात्मा और राजनीतिज्ञ थे। यह राजकुमार विक्रम ही कालान्तर से प्रतापशाली महाराजाधिराज वीर विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्होंने भयंकर युद्धों में विदेशी आक्रमणकारियों को परास्त कर भारत की रक्षा की। इन्हीं के नाम से तिथि ज्ञान के लिए एक संवतसर की प्रथा चलाई गई जो आज तक 'विक्रम-संवत' के नाम से पुकारी जाती है। संवत् के कारण राजा विक्रमादित्य का नाम चन्द्र दिवाकर के समान सदा अमर रहेगा।

भर्तृहरि के प्रसंग में विक्रमादित्य का नाम और विक्रमादित्य की चर्चा में भर्तृहरि नाम कभी-भी अलग-अलग नहीं किया जा सकता। महाराज

भर्तृहरि बड़े होने के कारण राज्य करते थे और विक्रमादित्य बड़े भाई के प्रधान मन्त्री का काम सम्भालते थे। दोनों भाईयों में बड़ा ही प्रेम और सद्भाव भी था। यद्यपि महाराज भर्तृहरि राजकार्य दक्ष थे तथापि उन्होंने राजकाज का विशेष भार विक्रम पर ही छोड़ दिया था। पिता जिस प्रकार सुपुत्र पर कार्यभार छोड़कर निश्चित हो जाता है उसी प्रकार भर्तृहरि, विक्रम पर राजकाज का दायित्व सौंप कर सुखी थे।

परमात्मा की इच्छा कहें या होनहार को कारण अथवा करमगति भी कह सकते हैं कि किसी बात ने दोनों भाईयों में मनोमालिन्य करा दिया। जिस बात को प्रजा ने स्वप्न में भी नहीं सोचा होगा या जिसका होना लोग असम्भव मानते थे, वही हुआ। सच है कि भावी बड़ी प्रबल होती है, होनी होकर रहती है। बात केवल मनोमालिन्य तक ही सीमित नहीं रही भर्तृहरि ने अपने छोटे भाई विक्रमादित्य को नगर से निकल जाने का आदेश दे दिया। क्यों ?

महाराजा भर्तृहरि के दो विवाह हो चुके थे। फिर भी किसी रूप-लावण्य सम्पन्ना, परम सुन्दरी, मनमोहिनी राजकुमारी ने उनकी तीसरी रानी होने का सौभाग्य प्राप्त कर लिया। इस नई महारानी का नाम पिंगला था। महारानी पिंगला के असाधारण रूपवती होने के कारण महाराज उस पर ऐसे मोहित हुए कि अपनी विद्या, बुद्धि, विवेक और विचार को जैसे उन्होंने ताक पर रख दिया— वे उसके क्रीत दास बन गये। भर्तृहरि की नकेल पिंगला के हाथों आ गई और महाराज बने उसके हाथों की कठपुतली। महारानी पिंगला जो चाहती थी वही महाराज से करवा लेती। रानी पिंगला ने भी ऐसा जादू कर दिया कि महाराज अपने होश-हवास खोकर पूरी तरह से उसके हाथों बिक गये।

किसी ने ठीक ही कहा है कि स्त्रियों के वश में होना सर्वनाश का बीज बोने के समान है पर इन मोहिनियों के आगे प्रायः सभी की अक्ल खराब हो जाती है। हम केवल भर्तृहरि को ही दोषी क्यों कहें, बड़े-बड़े योगी भी इन कामिनियों के मोहजाल में फँसकर अपना सब कुछ खो बैठे। मोहिनी के मोहन मन्त्र में कौन नहीं फंसा ? मोहिनी-शक्ति के आगे किसने

हार नहीं मानी ? यहाँ तक कि विश्वामित्र जैसे महर्षि भी मेनका के रूप जाल में फँसकर अपना तप भंग कर बैठे ! बड़े-बड़े शूरवीर जो संसार पर विजय प्राप्त कर सकते हैं वे भी इसके सामने कायर हो जाते हैं, तब फिर साधारण मनुष्यों की कौन-सी बात है ?

ईश्वर ने भी स्त्रियों के साथ पक्षपात किया है। ये अबला कही जाने पर भी सबला हैं, गऊ होने पर भी सिंह हैं; कोमलांगी होने पर भी वज्रांगी हैं। जो काम बड़े-बड़े धनुर्धारी अपनी बाण-विद्या से नहीं कर पाते उन्हें ये अपने एक ही कटाक्ष से कर लेती हैं। जब कोई इनके वश में हो जाता है तो उसका ज्ञान काफूर हो जाता है और ज्ञान विहीन पति अपनी स्त्री के सामने पशुवत होता है। इन मोहिनियों की अन्ध भक्ति करने वालों को अन्त में दुःख, धोखा और विश्वासघात ही मिलता है। जो पुरुष स्त्रैण हो जाते हैं या जो इसे सिर पर चढ़ा लेते हैं उन्हें ये खूब, नाच नचाती हैं और स्वयं स्वतन्त्र होकर मनमाने दुष्कर्म करती हैं।

हमारे महाराज भर्तृहरि यद्यपि असाधारण विद्वान् और बुद्धिमान थे परन्तु भावी के वश होने के कारण उन्होंने शास्त्रोपदेश पर ध्यान न देकर महारानी पिंगला को सिर पर चढ़ा लिया था। हुआ यह कि महाराज को अपने ऊपर पूरी तरह से अनुरक्त पाकर उन्हें वह अपनी इच्छा के अनुसार चलाने लगी। इतना ही नहीं निर्भय होकर वह कुकर्म करने से भी न चूकी।

उसने क्या कुकर्म किया ? और

उसका क्या फल हुआ ?

भगवान् रामचन्द्र जी विष्णु के अवतार माने जाते हैं वे कुटिया में सीता को अकेली छोड़कर स्वर्ण-मृग के पीछे धनुष-बाण लेकर भागे ! साधारण मनुष्य भी यह जानता है कि सोने का हिरण नहीं……तो फिर ? जैसी भावी होती है मनुष्य की बुद्धि भी वैसी ही हो जाती है। हमारे प्रातः स्मरणीय महाराज भर्तृहरि की बुद्धि भी यदि मारी नहीं जाती तो वे पिंगला के हाथों की कठपुतली न बनते, तो पिंगला व्यभिचारिणी न होती, वह व्यभिचारिणी न होती तो भर्तृहरि को वैराग्य कैसे होता और उन्हें वैराग्य न होता तो इस अद्भुत और महान् 'शतकत्रय' से भारतीय

संस्कृति वंचित रह जाती। जगत में जो कुछ होता है वह जगदीश की इच्छा से होता है और जगदीश जो करते हैं वह प्राणी की भलाई के लिए करते हैं। इसमें महाराज का भी बड़ा उपकार हुआ जिसकी तुलना नहीं की जा सकती। उनको संसार से विरक्ति न होती तो क्या आज उनका नाम जगत में अमर रहता? उन्होंने जिस महाउच्च परमपद की प्राप्ति वैराग्य लेकर की उस तक वह कैसे पहुंचते? गोस्वामी तुलसीदास और भर्तृहरि दोनों के साथ ठीक एक ही सी घटना घटी। घटना क्रम में थोड़ा-सा अन्तर अवश्य है। लेकिन दोनों के अमर हो जाने का कारण है—केवल स्त्री !

तात्पर्य यह है कि अपनी प्राण-प्रिया के कुकर्म का हाल जानकर महाराज को ऐसी विरक्ति हुई कि वह राजपाट त्यागकर एक आदर्श योगिराज बने। महारानी जैसी रूपवती थी वैसी ही चालाक, मक्कार और दुश्चरित्रा भी थी। महाराज का कोई भी दोष न था। महारानी ऊपर से आपको चाहने का ढोंग करती रही और भीतर ही भीतर आपसे उदासीन होकर अस्तबल के एक नीच दारोगा को चाहने लगी। महाराज जब महलों में आते तब वह अपने हाव-भाव और नाज-नखरों से उनका मन अपने हाथों में कर लेती और ये बात उसने बहुत दिनों तक महाराज से छिपाए रखी। महाराज तो यही समझते थे कि मेरी रानी सती साध्वी है पर उनके जाते ही दारोगा को बुलवाकर उसके साथ……।

जब तक समय नहीं आया महारानी की कलंक-कथा छिपी रही। मनुष्य, मनुष्य के गुप्त कामों को नहीं देख सकता पर परमात्मा से कुछ नहीं छिपाया जा सकता, आप अपने गुप्त काम को क्या अपने दिल की बात भी भगवान से नहीं छिपा सकते। जब तक उसकी इच्छा नहीं होती मनुष्य के कुकर्म छिपे रहते हैं। आदमी, आदमी की आँखों में धूल झोंक सकता है पर परमात्मा की आँखों में नहीं। आखिर यह पाप लीला कब तक छिपी रहती है? समय आते ही सबसे पहले इस पापाचार का पता राजकुमार विक्रम को लगा। लेकिन महाराज तब भी अन्धेरे में ही थे।

भाभी के परपुरुषरता होने की बात जानकर यिक्रमादित्य को असह्य मनोवेदना हुई। अपने उच्च कुल में दाग लगने और पूजनीय भाई की

अनिष्ट की आशंका से उसका मन कांप उठा। विक्रम ने यह बात भाई से कहने का कई बार संकल्प किया पर वह महाराज का रानी पर निश्छल विश्वास और अटूट प्रेम देखकर कहने का साहस न कर सका। अनेकों बार सोचते-सोचते उसने रातों पर रातें बिता दीं कि वह यह बात महाराज को कैसे बताए ? आखिर एक दिन मौका पाकर उसने महाराज को कहना शुरू कर ही दिया—"पूज्य भाई ! आप सर्वप्रकार से चतुर और बुद्धिमान हैं, खूब होशियार भी हैं पर एक जगह पर धोखा खा रहे हैं, यूँ तो मेरा ऐसा कहना छोटे मुँह बड़ी बात करना है पर मेरी गति तो सांप छछून्दर जैसी हो रही है कहूँ तो खराबी और न कहूँ तो खराबी। कहने में आपसे बड़ा डर लग रहा है, न कहने में कुल पर दाग लग रहा है, बदनामी हो रही है आशा है भी और नहीं भी कि आप मेरी बात का विश्वास करेंगे, दिल को बहुत रोका, समझाया पर न माना। अतः मजबूर होकर आपसे कहने का संकल्प किया है। सुनिये, मेरे बड़े भ्राता ! क्या कहूँ, कहा नहीं जाता, पर दुविधा में कहना पड़ रहा है कि भाभी के सम्बन्ध में मैंने एक बहुत बड़ी पापाचरण की बात सुनी है, पर मैंने भी उसे केवल सुनकर ही सत्य नहीं माना है उसकी पूरी तरह से जाँच करके ही उस पर विश्वास किया है। आपसे मेरी विनीत रूप से यही प्रार्थना है कि आप सावधानी से चलें। महाराज, आप भाभी की माया में फंसकर शास्त्रकारों का यह उपदेश भूल रहे हैं कि स्त्रियों की बातों में मधु और हृदय में हलाहल विष रहता है जो उनको केवल सती साध्वी समझे रहते हैं और जरा भी सन्देह नहीं करते वे बड़ी भूल करते है।"

भर्तृहरि ने यह सब सुनकर भी विक्रमादित्य से कहा—"विक्रम ! तुम्हें भ्रम हो गया है। पिंगला एक आदर्श नारी है। वह दिन रात मेरा ही जप, मेरा ही ध्यान करती है। वह मेरे ही सुख में सुखी और मेरे ही दुःख में दुःखी होती है। ऐसी पतिव्रता के माथे पर कलंक लगाकर तुम ठीक नहीं कर रहे। तुम्हारी बुद्धि विकृत हो गई है। यह जो तुमने एक बार कह दिया सो कह दिया पर दुबारा ऐसी बात मुँह पर लाने की कोशिश न करना। यह तो तुम भाई हो तो तुम्हें क्षमा कर रहा हूँ, कोई और होता

तो अभी सूली पर टंगवा देता।" महाराज के इतना कहने पर भी विक्रमादित्य ने उन्हें बहुत समझाया, प्रमाण भी दिए पर, पिंगला के रंग में रंगे हुए महाराज पर कोई प्रभाव न हुआ। फिर जब विक्रमादित्य ने सुफल की कोई सम्भावना न देखी तो चुप रह जाना ही उचित समझा। मन ही मन शायद उसने यही समझ लिया कि समय आये बिना कोई काम सिद्ध नहीं होता।

उधर पिंगला को भी यह पता लग गया कि उसके पाप कर्म का रहस्य विक्रमादित्य को मिल चुका है। उसने उसके लिए भी त्रिया चरित्र शुरू कर दिया। वह महाराज के प्रति पहले से भी अधिक प्रेम का प्रदर्शन करने लगी। जब उसे यह विश्वास हो गया कि महाराज के मन में उसके प्रति तनिक भी सन्देह नहीं है तो समय पाकर पिंगला ने विक्रमादित्य के विरुद्ध कान भरने शुरू किए—"महाराज, आप बुरा तो न मानेंगे, आपके भाई विक्रम का चरित्र कुछ अच्छा नहीं। मैं तो उसकी माता के समान हूं परन्तु वह इस बात को न समझकर मुझे कुदृष्टि से देखते हैं। केवल यही नहीं, मैंने सुना है कि वह अपने नगर के एक प्रसिद्ध धनिक की पुत्रवधू पर भी आसक्त हैं। उन्होंने उसके लिए कई दासियाँ भी लगा रखी हैं पर वह अब तक उनके वश में नहीं आई इसलिए उन्होंने नगर-सेठ को धमकी भी दी है। मैं नहीं समझती कि यह बात कितनी सत्य है पर इस बात को नहीं झुठलाया जा सकता कि वह आपके नाम को मिट्टी में मिला रहे हैं। मैं तो केवल यही कहूंगी कि आप उन पर सावधानी से नजर रखें।"

पिंगला ने महाराज को तो यह कहा और उधर नगर-सेठ को बुलवाकर उसे कहा—"मैं जो जो तुम्हें कह रही हूं वह तुम्हें करना होगा, नहीं तो तुम्हारी जान भी ले सकती हूँ, तुम्हारे बच्चों को कोल्हू में पिसवा सकती हूँ, और तुम्हारा कुछ न बचेगा।" मरता क्या न करता क्योंकि सारा नगर जान जान चुका था कि महाराजा पिंगला के हाथों बिक चुके हैं। वह जो काम करायेगी उसे ही महाराज भी करेंगे। अत: बहुत सोच विचार कर सेठ रानी की बातों पर राजी हो गया।

दूसरे दिन दरबार लगा!

महाराज अपने आसन पर आसीन हैं मन्त्री और दरबारी सब अपने-अपने स्थान पर बैठे हैं। सभा अपनी पूरी शोभा से लगी हुई थी। तभी द्वार की ओर से एक व्यक्ति 'दुहाई-दुहाई' का शोर करता हुआ अन्दर घुसा। महाराज ने उसे सामने बुलाकर उसकी बात पूछी तो उसने भरी सभा में कहना शुरू किया—"महाराज आपके छोटे भाई बड़े ही अत्याचारी अनाचारी और व्यभिचारी हो गये हैं" सेठ ने अभी इतना ही कहा कि महाराज के मन में पिंगला की बताई हुई सारी बात घूम गई उन्हें मन ही मन पिंगला पर और अधिक विश्वास हो गया। आखिर सेठ ने वही सारी कहानी दोहरा दी जो उसने महारानी पिंगला से सीखी थी। क्योंकि रानी ने ये बातें पहले ही महाराज के दिल में बिठा दी थीं अतः उन्होंने सेठ पर भी कोई सन्देह नहीं किया। उनका चेहरा तमतमा उठा।

विक्रम भी उस समय राजसभा में ही बैठे थे वे ये सब कुछ सुनकर समझ गये कि यह षडयन्त्र भी पिंगला का ही रचा हुआ है। विक्रमादित्य ने सेठ जी से कहा—तुम बुढ़ापे में झूठ बोलकर क्यों पाप बोझ अपने ऊपर बढ़ाते हो। मैं तो तुम्हारी पुत्रवधू को जानता तक नहीं कि वह भली है या बुरी? मेरे लिए तो वह माता के समान है। आप यदि मेरे ऊपर व्यर्थ ही दोषारोपण करके अपना मतलब सिद्ध कर लेंगे तो इससे भी क्या होगा। सांसारिक धन-दौलत आपके संग न जायेगी। ये शरीर और ऐश्वर्य अनित्य है। अतः सेठ जी! धर्म को न छोड़ो, आप किसी से डर कर जो यह दोष मुझ पर थोप रहे हैं जब जाँच करने पर इसका भेद खुलेगा तो उस समय आपकी दशा क्या होगी? लेकिन विक्रम की बातें न सुनकर बीच ही में महाराज भर्तृहरि ने आवेश में कह दिया—रे नीच! रे पापी! तू मेरे सामने ज्यादा बातें बनाकर सच्चा होने की कोशिश न कर अब तेरी मक्कारी और धोखेबाजी न चलेगी। अगर अपने प्राणों की रक्षा चाहता है तो अभी यहाँ से काला मुँह कर जा। जल्दी ही मेरी आँखों के सामने से दूर हो जा। दूर हो मेरे सामने से! दूर हो!!

विक्रमादित्य भाई की यह आज्ञा सुनकर बोला कि मैं तो अभी चला जाता हूँ पर आपने जो यह बात की बिना जांच करवाये इक तरफा फैसला

दिया है यह सरासर गलत है। आपको एक दिन पछताना पड़ेगा। आपका दिल मुझे याद करके रोयेगा। लेकिन परमात्मा आपका मंगल करे, सुबुद्धि दे……और यह कहता हुआ विक्रम सभा भवन से निकलकर वन को ओर चला गया।

इस घटना को कई वर्ष बीत गये। भर्तृहरि के राज्य में ही नगर का एक दरिद्र ब्राह्मण, अपनी इष्ट सिद्धि के लिए किसी देवता की घोर आराधना कर रहा था। उसे तप करते हुए जब अनेक वर्ष बीत गये और तप के कष्ट से उसका शरीर एकदम कृष हो गया तब कहीं जाकर उसके देवता का आसन हिला। देवता ने उस महा तपस्वी के सामने प्रकट होकर कहा—"हे ब्राह्मण ! मैं तुम्हारे तप से बड़ा प्रसन्न हुआ हूँ इसलिए वरदान में तुम्हें यह एक फल देता हूँ। इसे तुम कोई साधारण फल न समझना। इस फल का नाम—'अमर फल' है इसके खाने वाले की मृत्यु नहीं हो सकती। जाओ, तुम इसे खाकर पृथ्वी पर अमर हो जाओ।" इतना कह-कर वह देवता अन्तर्ध्यान हो गये।

ब्राह्मण उस अमर फल को लेकर अपने घर आया और स्त्री से उसने उस फल का सारा वृतान्त सुनाया। ब्राह्मणी उसकी बात को सुनकर प्रसन्न होने के स्थान पर असन्तुष्ट होकर बोली—ये जो देवता से आप अमर फल लेकर आये हैं इससे तो हमारा कष्ट घटने की वजाए उल्टा बढ़ेगा। हम लोग जन्म से गरीव हैं। अगर वह धन देते तो कुछ भला होता। निर्धन को इस जगत में सुख नहीं है, अपने ही बन्धु बान्धव हमें दरिद्र समझकर छोड़ देते हैं। दरिद्र की इस संसार में कोई कीमत नहीं। हम दरिद्रता के कारण ही तो इस जिंदगी से दुःखी हो चुके हैं और अब तो यह कष्ट और भी बढ़ जायेगा। यह अमर फल खाकर तो हमें अनन्त काल तक दारिद्रय कष्ट भोगना पड़ेगा। यह फल तो उन्हीं के लिए अच्छा है जिन्हें परमात्मा ने राजपाट, धन-वैभव, ऐश्वर्य और सुख-समृद्धि सब कुछ दिया हो। इसलिए मेरी बात मानो तो इसे महाराज भर्तृहरि को दे आइये और उनसे बदले में धन लेकर के अपनी बाकी बची हुई जिन्दगी सुख से व्यतीत कीजिए।

वहुत कुछ सोच विचार कर ब्राह्मण उस अमर फल को लेकर महाराज के पास सभा में जा पहुँचा। महाराज ने उस ब्राह्मण को अपने पास बुला लिया और पूछा—"हे द्विजवर! आज्ञा कीजिए आपको क्या कष्ट है, आपने यहाँ तक आना कैसे किया ? क्या चाहते हो ?" ब्राह्मण ने उस 'अमर फल' की सारी कहानी सुनाकर वह फल राजा के हाथों पर रख दिया। महाराज ने बड़ी प्रसन्नता से उस फल को स्वीकार किया और ब्राह्मण को कई लाख स्वर्ण मुद्राएँ देकर विदा किया।

ब्राह्मण के विदा होते ही भर्तृहरि मन ही मन यह विचारने लगे कि वास्तव में यह अमर फल परमात्मा ने ही कृपा करके मेरे पास भिजवाया है। पर अब मुझे यह समझ में नहीं आता कि यह अमर फल मैं स्वयं खाऊँ या अपनी प्राण प्रिया रानी पिंगला को खिलाऊँ। अगर इसे मैं खाता हूँ तो मैं सदा के लिए अमर हो जाऊँगा। मेरा रूप और यौवन सदा स्थिर रहेगा, बुढ़ापा पास न आयेगा, पर मेरे सुखों का आधार तो रानी पिंगला ही है उसका रूप लावण्य कुछ दिनों बाद नष्ट हो जायेगा, वह बूढ़ी हो जायेगी। इस स्थिति में मैं किसके साथ सुख उपभोग कर सकूँगा। परन्तु यदि वह अमर फल खाये और बूढ़ी न हो और उसकी सौन्दर्य प्रभा ज्यों की त्यों बनी रहे तो मैं उसके साथ सांसारिक सुखों का उपभोग कर सकूँगा। यह विचार कर महाराज अमर फल को हाथ में लेकर रनिवास की ओर चल दिये।

दासियों द्वारा महाराज के आगमन का समाचार सुनकर पिंगला उन्हें लेने के लिए द्वार तक आई, वह उनके गले में हाथ डालकर उन्हें प्रेमपूर्वक अन्दर ले गई। महाराज अन्दर जाकर बैठे तो वह भी उनके पास ही बैठ गई। महाराज ने कहा—"प्रिया! आज एक बड़ा ही आश्चर्यजनक फल मुझे मिला है जिसे 'अमर फल' कहते हैं उसी को लेकर मैं तुम्हारे पास आया हूं।" राजा ने फल निकालकर दिखाते हुए रानी से कहा—"रानी! देखो, यह है अमर फल, इसे एक देवता ने किसी तपस्वी ब्राह्मण को उसकी तपस्या से सन्तुष्ट होकर दिया था। इसको खाने वाला सदा अमर और सदा जवान रहता है अतः मैं चाहता हूँ कि तुम इस फल को

खाओ जिससे तुम्हारा सौन्दर्य सदैव बना रहे।" यह कहते हुए राजा ने वह फल रानी को दे दिया। पहले तो रानी ने यही कहा कि नहीं प्राणनाथ आप ही इस फल को खायें, आप ही से मेरा सौभाग्य है, परमात्मा सदा आपको अजर-अमर रखे लेकिन रानी की यह सब बातें दिखावटी थीं। राजा के फिर यह कहने पर कि नहीं, रानी तुम ही इस फल को खाओ, तुम्हारे खाने से ही मुझे सन्तोष होगा तो उसने वह फल महाराज से लेकर कहा कि जब आपका यही हुक्म है तो मैं इस फल को स्नान करके शुद्ध होकर खाऊँगी। महाराज उसकी बात पर विश्वास करके फल उसे देकर सभा में लौट आये।

महाराज के जाते ही पिंगला ने अपने प्रेमी दारोगा को बुला लिया। पिंगला उसे लेने भी दरवाजे तक गई और गले में हाथ डाल महल के अन्दर ले आई। दारोगा ने पिंगला से पूछा—"क्या बात, आज असमय ही आपने कैसे याद किया ?" रानी बोली—"प्यारे, आज महाराज ने मुझे एक फल दिया है उसके खाने से आदमी सदा जवान और अमर हो जाता है। मैंने उनसे खाने का वायदा करके फल ले लिया पर मेरे सजन ! संसार में मुझे तुमसे प्रिय और कोई नहीं है, तुम ही मेरे सुख के कारण और सारा आनन्द हो। इसलिए मैं चाहती हूँ कि तुम उस फल को खाओ।" दारोगा बोला— "अच्छा प्यारी ! मैं इसे खा लूँगा। पर जैसे तुमने कहा कि यह देवता की दी हुई चीज है इसलिए पवित्र होकर ही खानी चाहिए। मैं अभी जाकर क्षिप्रा में स्नान करके इसे खा लूँगा।" रानी ने अमर फल दारोगा को दे दिया। मन ही मन दारोगा भी अपनी सफलता पर बड़ा प्रसन्न हुआ कि मैंने इसे अच्छा चकमा दिया। मैं खुद इस फल को खाऊँगा तो क्या लाभ ? मैं इसे अपनी प्रेमिका को खिलाऊँगा। वह मेरी प्राण प्यारी सदा नवयुवती बनी रहेगी तो मैं हमेशा उसके साथ आनन्द करता रहूँगा। यह सोचकर वह अमर फल को लेकर अपनी प्रेमिका एक वेश्या के पास जा पहुँचा। दारोगा साहब को आया देखकर वेश्या ने उन्हें अपने सामने बिठाया और आने का कारण पूछा।

दारोगा ने कहा—'प्राणप्रिये ! आज मुझे एक बड़ी अद्भुत वस्तु

मिली है। इसके खाने वाला कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता और उसका यौवन भी चिर स्थाई हो जाता है। अतः मैं चाहता हूँ कि तुम इस अमर फल को खाओ। तुम यदि सदा-सर्वदा आज जैसी रूप लावण्या बनी रहोगी तो जिन्दगी में बस मजा ही मजा रहेगा।' वेश्या ने कहा—"अच्छा दारोगा साहब, मैं आपकी आज्ञा कभी नहीं टाल सकती, स्नान करके मैं इस फल को खा लूँगी।"

वेश्या की बात सुनकर दारोगा ने वह फल उसे दे दिया और स्वयं अपने काम पर लौट आया। उसके जाते ही वेश्या सोचने लगी—"मेरी सारी आयु तो पाप कमाते बीती। न जाने कितने पापों का, क्या-क्या दण्ड मुझे भुगतना पड़ेगा। अगर मैंने इस अमर फल को खा लिया तो न जाने और कब तक या अनन्तकाल तक ही इन पापों को इकट्ठा करती रहूँगी। अतः मुझे यह फल खाना तो बिल्कुल भी उचित नहीं है। इसे तो महाराज भर्तृहरि ही खायें तो ठीक रहेगा। उनके अमर होने से मेरी आत्मा को सन्तोष होगा कि जिन्दगी में एक काम तो ढंग का किया। ऐसे राजा के अमर होने से प्रजा सदा सुखी रह सकेगी। ऐसे राजा तो बहुत कम होते हैं अतः यह फल मैं उन्हें ही देने जाती हूं।

\+ \+ \+

आज विक्रमादित्य का देश-निकाला दिए हुए न जाने कितने वर्ष बीत चुके हैं। महाराजा भर्तृहरि की राज सभा फिर लगी हुई है। चोबदार ने आकर सूचना दी कि कोई बाई जी आई हैं और महाराज से मिलना चाहती हैं। महाराजा ने उसे राजसभा में लिवा लाने की स्वीकृति दे दी।

उस भरी सभा में एक अपूर्व सुन्दरी, अद्भुत रूप-लावण्या और बेश-कीमती कपड़ों में सजी नवयुवती वेश्या अपने सुकोमल हाथों से एक विचित्र फल महाराज के आगे करती हुई बोली—"महाराज आज मुझे यह एक अपूर्व फल मिला है यह फल बड़ा प्रभावशाली है, इसके खाने वाला सदा अमर रहता है। मैं इस फल को खाऊँगी, तो सदा पाप कमाऊँगी; आप इस फल को खायेंगे तो प्रजा सुखी हो जायेगी.........।"

वेश्या तो महाराज का गुणानुवाद किये जा रही थी लेकिन महाराज को होश कहाँ? उनकी तो फल देखते ही ऊपर की साँस ऊपर और नीचे की साँस नीचे रह गई; उनके चेहरे का रंग उड़ गया था। वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। कुछ संभलते हुए उन्होंने वह फल वेश्या के हाथ से लिया और उसी क्षण उसे खा लिया।

उन्हें पिंगला के विश्वासघात पर बड़ी आत्मग्लानि हुई। रानी के छल पूर्ण व्यवहार और कपट पर बड़ी घृणा उत्पन्न हो गई। उन्हें जबरदस्त सदमा लगा। अब उनकी आँखें खुलीं तो उन्हें पता लगा कि स्त्रियों की प्रीति में सार नहीं होता। उन्हें संसार से विरक्ति हो गई। संसार के विषय-भोगों से एक क्षण में नफरत हो गई। उन्होंने समझ लिया कि संसार में कोई किसी का नहीं होता। यह सब मिथ्या जाल है और इसमें फंसकर लोग अपना दुष्प्राप्य जीवन गंवा देते हैं। उन्होंने कहा—

"यां चिन्तयामी सततं मयि सा विरक्ता,
साप्यन्यमिच्छिति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या,
धिक् तां च तं च मदनं इमां च मां च॥"
(नीति शतक, श्लोक सं० २)

मैं जिसको सदा चाहता हूँ वह (मेरी रानी पिंगला) मुझे नहीं चाहती, वह दूसरे पुरुष को चाहती है। वह पुरुष (दारोगा) रानी को नहीं चाहता, वह दूसरी ही स्त्री पर मरता है। वह स्त्री जिसे रानी का यार दारोगा चाहता है, मुझे चाहती है। इसलिए उस रानी को धिक्कार है! उस दारोगा को धिक्कार है!! उस कामदेव को धिक्कार है!!! जो यह सब कर्म कराता है।

यह कहते हुए उन्होंने सारा राज-पाट और धन-दौलत एक क्षण में त्याग कर वन का रास्ता लिया। चलते समय उन्होंने मन्त्री से कहा—मैंने अपने धर्मात्मा, चरित्रवान और सत्यवक्ता भाई विक्रमादित्य के साथ बड़ा अन्याय किया है। मुझे उस समय कुछ भी ज्ञान नहीं रहा, मेरी अकल

पर पर्दा पड़ गया था। उस कुटिला ने मुझ पर जादू कर दिया था। अब तुम विक्रम का पता लगाना और उसे राजगद्दी पर बिठा देना।"

महाराज यदि उस समय चाहते तो पिंगला को जमीन में जिन्दा गड़वा सकते थे, दारोगा को तोप के मुँह पर रख उड़वा सकते थे परन्तु उन्हें तो निर्मल ज्ञान हो गया था। ऐसा ज्ञान भी उन्हें ही होता है जिन पर ईश्वर की कृपा होती है। मनुष्य से तो साधारण से साधारण वस्तुएँ भी नहीं छोड़ी जातीं, कोरी इच्छाओं का त्याग भी नहीं होता, तब राज्य और सम्पूर्ण वैभव को त्याग देना तो बहुत बड़ी बात है।

अन्त में यही कहना होगा कि भर्तृहरि की यह शतक कृति और ऐसा उच्चकोटि का साहित्य किसी क्षणिक आवेश का परिणाम नहीं हो सकता। निश्चय ही भर्तृहरि की विचारधारा जीवन भर बनती रही होगी। उपरोक्त घटना भर्तृहरि के लिए सांसारिक विरक्ति का तात्कालिक कारण हो सकता है और सम्भवतः उसी के बाद उन्होंने अपने अनुभूत ज्ञान भण्डार को इन शतकों के रूप में प्रस्तुत किया हो। संसार जब तक बना रहेगा तब तक यह ग्रन्थ कीर्तिमान स्तम्भ के रूप में सारे समाज को प्रकाश देता रहेगा।

—रणधीर सिंह

अमर ग्रन्थ

भर्तृहरि त्रयशतक

प्रारम्भ

वैराग्य शतक

—भोग की इच्छा नष्ट हो गई,
—पुरुषत्व का अभिमान समाप्त हो गया,
—समान आयु वाले मित्र भी स्वर्ग चले गये,
—स्वयं भी लकड़ी टेक-टेक कर चलने लगा,
—आँखों से भी कम सूझने लगा, फिर मरने का नाम सुनते ही मनुष्य भयभीत हो जाता है; आश्चर्य है ?

**

हम विषयों को न भोग सके,
विषयों ने ही हमें भोग लिया।
काल व्यतीत न हुआ,
किन्तु हम ही व्यतीत हो गये।
तृष्णा समाप्त न हुई;
परन्तु हम ही समाप्त हो गये।

—वैराग्य शतक से

॥ श्रीः ॥

अथ वैराग्यशतकम्

चूड़ोत्तंसितचारुचन्द्रकलिकाचञ्चच्छिखाभास्वरो
लीलादग्धविलोलकामशलभः श्रेयोदशाग्रे स्फुरन् ।
अन्तः स्फूर्जदपारमोहतिमिरप्राग्भारमुच्चाटयंश्चेतः
सद्मनि योगिनां विजयते ज्ञानप्रदीपो हरः ॥१॥

शिरोभूषणीभूत चन्द्रमा की किरणों से प्रकाशमान, कामदेव रूपी पतिंगों को लीला से ही जलाने वाले, कल्याण करने वालों में अग्रगण्य, भक्तों के अन्तःकरण में स्थित मोहरूपी अन्धेरे का नाश करने वाले, ज्ञान के प्रकाशक भगवान् शंकर योगियों के हृदय में रहा करते हैं ॥१॥

बोद्धार मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः ।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम् ॥२॥

विद्वान् ईर्ष्या से ग्रस्त हैं, प्रभु (धनी) गर्व से दूषित हैं, इन दोनों के अतिरिक्त बाकी बचे लोग अज्ञान में डूबे हैं, इस कारण कवियों की बहुमूल्य उक्तियां उनके मन की मन ही में रह जाती हैं, उनको कोई समझ नहीं पाता ॥२॥

न संसारोत्पन्नं चरितमनुपश्यामि कुशलं ।
विपाकः पुण्यानां जनयति भयं मे विमृशतः ।

महद्भिः पुण्योघैश्चिरपरिगृहीताश्च विषया
महान्तो जायन्ते व्यसनमिव दातुं विषयिणाम् ।।३।।

संसार के चरित्रों को देखते हैं तो उनमें कल्याण नहीं दिखाई देता, विचार करने पर पवित्र कर्मों का फल भी भय ही उत्पन्न करता है। चिर संचित पुण्य समूहों द्वारा प्राप्त विषय भी विषयी पुरुषों के लिए दुःखदायी ही होते हैं ।।३।।

उत्खातं निधिशङ्कया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातवो
निस्तीर्णः सरितां पतिनृपतयो यत्नेन सन्तोषिताः ।
मन्त्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने निशाः
प्राप्तः काणवराटकोऽपि न मया तृष्णऽधुना मुञ्चमाम् ।।४।।

हे तृष्णे ! अब तो मुझे छोड़, अरी मैंने तेरे चक्कर में पड़कर खजाने की खोज की इच्छा से सारी पृथ्वी छान डाली, रसायन सिद्धि के फेर में पड़कर पर्वतीय समस्त धातुओं को फूँक डाला, धन की इच्छा से समुद्र को भी पार किया, मन्त्रों को जगाने के लिए शमशान में अनेक रात्रियाँ व्यतीत कीं पर आज तक एक कानी कौड़ी भी हाथ नहीं लगी ।।४।।

भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किञ्चित्फलं
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला ।
भुक्तं मानविवर्जितं परगृहे साशङ्कया काकवत्तृष्णे
दुर्गतिपापकर्मनिरते नाऽद्यापि सन्तुष्यसि ।।५।।

मैंने आज तक बड़े-बड़े कठिन देशों में भ्रमण किया पर उससे कोई फल न मिला। अपनी जाति और कुल के अभिमान को त्याग कर जिनकी सेवा नहीं करनी उसे भी किया पर वह

भी व्यर्थ हुई। अपने मानापमान का विचार न करते हुए दूसरों के घर कौओं की तरह भोजन भी किया पर पापकर्म में प्रवृत्त हे तृष्णे ! इतने पर भी तू संतुष्ट नहीं हुई ।।५।।

खलालापाः सोढ़ाः कथमपि तदाराधनपरैं
र्निगृह्यान्तर्बाष्प हसितमपि शून्येन मनसा ।
कृतश्चित्तस्तम्भः प्रहसितधियामञ्जलिरपि
त्वमाशे मोघाशे किमपरमतो नर्तयसि माम् ।।६।।

दुष्टों की आराधना करते हुए मैंने उनके कटु भाषणों को किसी तरह सहा, आँसुओं को भीतर ही भीतर रोककर उदास रहते हुए भी हँसा, मन को मारकर उनके सामने अञ्जलि बांधे रहा, हे तृष्णे ! इससे अधिक और तू कौनसा नाच नचाना चाहती है ।।६।।

आदित्यस्य गतागतैर हरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते ।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्ति मरणं त्रासश्च नोपत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ।।७।।

प्रतिदिन सूर्य के उदय और अस्त से आयु क्षीण होती जाती है, सांसारिक प्रपंचों के चक्कर में ही सारा समय वीतता जा रहा है, उत्पत्ति, बुढ़ापा और मरण को देखकर भी इससे किसी को भय नहीं होता, इसलिए मालूम पड़ता है कि यह सारा संसार अज्ञानमयी प्रमोदरूपी मदिरा को पीकर उन्मत्त हो गया है ।।७।।

दीना दीनमुखैः सदैव शिशुकैराकृष्टजीर्णाम्बरा
क्रोशद्भिः क्षुधितैर्नरैर्न विधुरा दृश्येत चेद् गेहिनी

याञ्चाभङ्गभयेन गद्गदलसत्त्रुट्यद्विलीनाक्षरं
को देहीति वदेत्स्वदग्धजठरस्यार्थे मनस्वी जनः ॥८॥

यदि खाने के लिए कलपते हुए और दीन मुखवाले बच्चों से कपड़ों द्वारा नोची-खसोटी गयी दुखिया अपनी गृहणी न देखी जाय तो कौन ऐसा स्वाभिमानी पुरुष होगा जो इस जले पेट के लिए याचना के व्यर्थ होने के भय से और रूँधे हुए गले के कारण अस्पष्ट अक्षरों से मुझे दो ऐसा कहने के लिए तैयार होगा। अर्थात् इन सब अनर्थों की मूल स्त्री ही है ॥८॥

निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानो विगलितः
समाना स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमाः।
शनैर्यष्ट्योत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने
अहो दृष्टः कायस्तदपि मरणापाय चकितः ॥९॥

भोग की इच्छा नष्ट हो गई पुरुषत्व का अभिमान समाप्त हो गया, समान वयवाले प्रिय मित्रगण स्वर्ग चले गये, स्वयं भी लकड़ी टेक-टेक कर चलने लगे, आँखों से कम सूझने लगा, फिर भी मरने का नाम सुनते ही मनुष्य भयभीत हो जाता है, आश्चर्य है ॥९॥

हिंसाशुन्यमयत्नलभ्यशमनं धात्रा मरुत्कल्पितं
व्यालानां, पशवस्तृणांकुरभुजः सृष्टाः स्थलीशायिनः।
संसारार्णवलंघनक्षमधियां बृत्तिः कृता सा नृणां
यामन्वेषयतां प्रायान्ति सततं सर्वे समाप्ति गुणाः ॥१०॥

सृष्टिकर्ता विधाताने हिंसारहित और बिना प्रयत्न से मिलने वाली वायु को सर्पों का भोजन बनाया, तृणों के अंकुरों को

पशुओं का भोजन बनाया और संसार रूपी समुद्र को पार करने में समर्थ मनुष्यों की वह वृत्ति बनाई जिसकी खोज में उनके सारे गुण समाप्तप्राय हो जाते हैं ॥१०॥

न ध्यात पदमीश्वरस्य विधिवत् संसारविच्छित्तये
स्वर्गद्वारकपाटपाटनपटुर्धर्मोऽपि नोपार्जितः ।
नारपीनपयोधरोरुयुगलं स्वप्नेऽपि नाऽऽलिङ्गितं
मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयम् ॥११॥

भव बन्धन को काटने के लिए मैंने विधि पूर्वक परमात्मा के चरणों का ध्यान न किया, और न स्वर्ग द्वार के खोलने की कुञ्जी धर्म का उपार्जन ही किया। स्त्री के पुष्ट स्तनों का मर्दन भी न किया, न सघन जांघों का अलिङ्गन ही किया, केवल माता के यौवनरूपी बन को काटने में हम कुठार के रूप में उत्पन्न हुए ॥११॥

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता-
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेव याता-
सतृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥१२॥

हम विषयों को न भोग सके, विषयों ने ही हमें भोग लिया। हम तप नहीं कर सके, पर तप ने ही हमें तपा लिया, काल व्यतीत न हुआ, किन्तु हम ही व्यतीत हो गये, तृष्णा समाप्त न हुई, किन्तु हम ही समाप्त हो गये ॥१२॥

क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न सन्तोषतः
सोढा दुःसहशीतवातपवनक्लेशा न तप्तं तपः ।

ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमित प्राणैर्न शम्भोः पदं
तत्तत्कर्मकृत यदैव मुनिभिस्तैस्तैः फलैर्वञ्चितम् ॥१३॥

हमने सहन किया पर क्षमा से नहीं किन्तु असमर्थता से, गृहस्थ सुख को त्यागा सही पर सन्तोष से नहीं, अपितु दरिद्रता के कारण, भले ही शीत, वात और तपन के कष्ट को सहा पर तप के कष्ट को न सहा, ध्यान तो किया पर धन का किया, प्राणायाम द्वारा शंकर भगवान् के चरणों का नहीं किया, इस तरह मैंने वही कर्म किये जो मुनियों ने किया था परन्तु उनका फल हमें मुनियों के जैसा नहीं मिला ॥१३॥

वलिभिर्मुखक्रान्तं पलितैरङ्कितं शिरः ।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ॥१४॥

मुख पर काफी झुर्रियां पड़ गईं, सिर के वाल सफेद हो गए, शरीर शिथिल हो गया, परन्तु तृष्णा न घटी, वह तरुण ही रह जाती है ॥१४॥

येनैवाम्बरखण्डेन संवीतो निशि चन्द्रमाः ।
तेनैव च दिवा भानुरहो दौर्गत्यमेतयोः ॥१५॥

चन्द्रमा जिस आकाशरूपी वस्त्र से अपने को रात्रि में ढँकता है, सूर्य भी उसी से अपने को दिन में ढँकता है। आश्चर्य है कि संसार को प्रकाश देने वाले इनको भी दूसरे के सामने दीन होना ही पड़ता है ॥१५॥

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न मनो यत्स्वयममून् ।

जन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥१६॥

चिरकाल तक भोग किए विषय एक न एक दिन अवश्य ही भोगने वाले को छोड़ते हैं, तव यदि उन्हें स्वयं ही छोड़ दिया जाय तो क्या हानि ? फिर भी इनको हम छोड़ने को तैयार नहीं। मनुष्यों को चाहिए कि वे इनको स्वयं छोड़ दें। अपनी इच्छा से विषयों का त्याग करने पर अत्यन्त सुख प्राप्त होता है और यदि विषयों ने छोड़ा तो वड़ा सन्ताप होता है ॥१६॥

विवेकव्याकोशे विदधतिशमे शाम्यति तृषा
परिष्वंगे तुङ्गे प्रसरतितरां सा परिणतिः।
जराजीर्णैश्वयग्रसनगहनाक्षेपकृपणस्तृषापात्रं
यस्यां भवति मरुतामप्यधिपतिः ॥१७॥

विवेक के उत्पन्न होने से शान्ति का उदय होता है, जिससे तृष्णा शान्त होती है और यदि उसको लिपटाया तो वह वढ़ती ही जाती है। वृद्धावस्था में जो विषयासक्ति होती है, उसको इन्द्र भी नहीं रोक सकता और वह भी इसी तृष्णा का पात्र बनता है ॥१७॥

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं
शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम्।
वस्त्रं जीर्णशतखण्डमयी च कन्था
हा हा तथापि विषयान्न परित्यजन्ति ॥१८॥

भीख मांगकर खाना वह भी रूखा-सूखा और एक वार, सोना भी पृथ्वी पर ही, परिवार भी अपना शरीर ही, पुरानी

फटी गुदड़ी ही कपड़ा, इस तरह की अवस्था में रहते हुए भी मनुष्य विषय-वासना को नहीं छोड़ते, आश्चर्य है ॥१८॥

स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम् ।
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरकरस्पर्धिजघनमहो
निन्द्यं रूपं नकविजनविशेषैर्गुरुकृतम् ॥१९॥

मांस के लोथड़े रूप स्तनों को सुवर्ण के कलशों की उपमा दी, खखार और थूक के पात्र मुख की चन्द्रमा से तुलना की, टपकते हुए मूत्र से भीगी जंघा को गजेन्द्र के सूंड की उपमा दी, इस तरह निंद्य भी स्त्रियों के रूप को कवियों ने कैसा बढ़ाकर कहा, आश्चर्य है ॥१९॥

अजानन्माहात्म्यं पततु शलभो दीपदहने
स मीनोऽप्यज्ञानाद् बडिशयुतमश्नातु पिशितम् ।
विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिलान्
मुञ्चामः कामानहह ! गहनो मोहमहिमा ॥२०॥

अग्नि की महिमा को न जानता हुआ पतंगा भले ही दीये की ज्वाला में अपने आपको जला डाले, मछली भी न जानकर बन्सी में लगे हुए मांस को खा ले चाहे फिर बन्सी का कांटा गले में भले ही फँस जाय, पर वह मांस के मोह को छोड़ने के लिए तैयार नहीं। इस तरह अपने कामों (इच्छाओं) का विपत्ति रूप जाल के जंजाल से युक्त जानकर भी हम लोग उन्हें छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं। अहो, मोह की महिमा कैसी कठिन है ॥२०॥

फलमलमशनाय स्वादु पानाय तोयं
शयनमवनिपृष्ठं वल्कले वाससी च ।

नवघनमधुपानभ्रान्तसर्वेन्द्रियाणा—
मविनयमनुमन्तुं नोत्सहे दुर्जनानाम् ॥२१॥

जबकि हमें भोजन के लिए फल, पीने के लिए मधुर पानी, सोने के लिए पृथ्वी, पहनने के लिए पेड़ों के छाल पर्याप्त रूप से प्राप्त हैं तब हम धन के मद से उन्मत्त इन्द्रियों वाले दुर्जनों के निरादर को क्यों सहें ॥२१॥

विपुलहृदयैर्धन्यैः कैश्चिज्जगज्जनितं पुरा
विधृतमपरैर्दत्तं चान्यैर्विजित्य तृणं यथा।
इह हि भुवनान्यन्ये धीराश्चतुर्दश भुञ्जते
कतिपयपुरस्वाम्ये पुंसां कएष मदज्वरः ॥२२॥

संसार की महिमा कैसी विलक्षण है, देखिए इसको प्राचीन काल में उदार हृदय वाले कुछ महापुरुषों ने अपनाया, कुछ लोगों ने उसका उपभोग किया, वहुतेरों ने इसको जीतकर तृण की तरह औरों को दे दिया आज भी कुछ धीर राजा महाराजा चौदहों भुवनों का पालन करते हैं, पर उनको इतने बड़े साम्राज्य के आधिपत्य का तनिक भी अभिमान न हुआ, परन्तु इने-गिने ग्रामों के स्वामित्व में मनुष्य की यह मदोन्मत्तता कैसी ?॥२२॥

त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमनोन्नताः
ख्यातस्त्वं विभवैर्यशांसि कवयो दिक्षु प्रतन्वन्ति नः।
इत्थं मानद नातिदूरमुभयोरप्यावयोरन्तरं
यद्यस्मासुपराङ्मुखोऽसि वयमप्येकान्ततो निस्पृहा ॥२३॥

यदि तू राजा है, इसलिए तुझे अभिमान है तो हमें भी गुरुओं की उपासना से प्राप्त ज्ञान के कारण तुझसे कम अभिमान नहीं है, यदि तू अपने ऐश्वर्य से प्रसिद्ध है तो विरक्तता में

कवियों द्वारा हम लोगों का भी यश दसों दिशाओं में व्याप्त है, हे राजन् ! इस प्रकार आप में और हम में विशेष अन्तर नहीं फिर भी यदि तू हम लोगों से मुँह फेर लेता है तो हम भी तुमसे अत्यन्त निःस्पृह रहा करते हैं ।।२३।।

अभुक्तायां यस्यां क्षणमपि न यातं नृपशतै-
र्भुवस्तस्या लाभे क इव बहुमानः क्षितिभुजाम् ।
तदंशस्याप्यंशे तदवयवलेशेऽपि पतयो
विषादे कर्तव्ये विदधति जडाः प्रत्युत मुदम् ।।२४।।

जिस पृथ्वी के स्वामित्व को पाकर उसका पूर्ण भोग भोगे बिना ही हमारे पूर्वजों को उसे छोड़ देना पड़ा उसी के स्वामित्व को पाकर आज के राजाओं को अभिमान कैसा ? इतना ही क्यों ? अब तो पृथ्वी के अंश को प्राप्त कर मनुष्य अपने को उसका पति मानने का दावा रखते हैं । बड़ा आश्चर्य है कि मूर्ख लोग जहाँ खेद करना चाहिए वहाँ भी आनन्द ही माना करते हैं ।।२४।।

मृत्पिण्डो जलरेखया वलयितः सर्वोऽप्ययं नन्वणुः
भोगीकृत्य स एव संयुगशतै राज्ञां गणैर्भुज्यते ।
नो दद्युर्ददतेऽथवा किमपि ते क्षुद्रा दरिद्रा भृशं
धिग्धिक्तान्पुरुषाधमान्धनजणान्वाञ्छन्ति तेभ्योऽपिये ।।२५।।

यह सारी पृथ्वी जल की रेखा से घिरा हुआ मिट्टी का एक छोटा पिण्ड है, सैकड़ों राजा युद्धों द्वारा जहाँ-तहाँ उसके कुछ-कुछ अंशों पर अपना प्रभुत्व प्राप्त कर उस पर राज किया करते हैं । वे राजा लोग हमें कुछ देंगे या देते हैं इसके अतिरिक्त और उनसे आशा ही क्या की जा सकती है, वे तो स्वयं ही युद्धों के

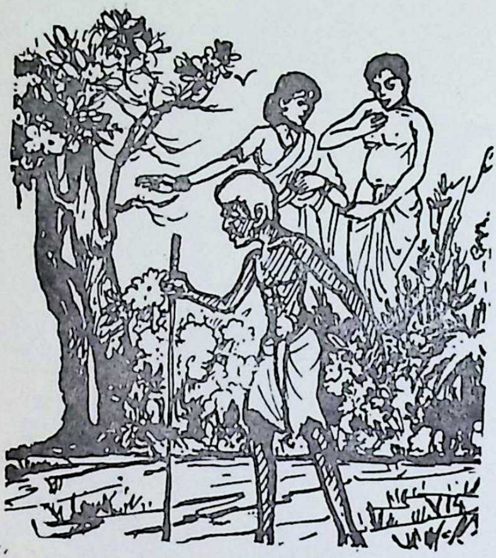

सिर के बाल सफेद हो गये, मुख पर झुर्रियाँ पड़ गईं शरीर शिथिल हो गया पर तृष्णा न मिटी वह जवान ही रह जाती है ।

(वै० श० १४)

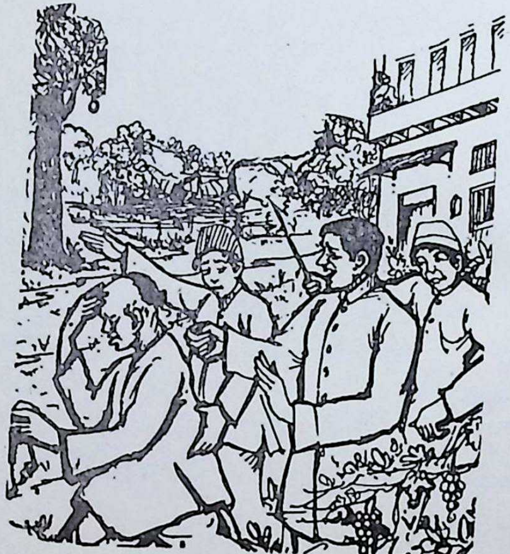

जब हमें भोजन के लिए फल, पीने को पानी, सोने के लिए पृथ्वी, पहनने के लिए पेड़ों की छाल पर्याप्त रूप में मिलती है तब हम धन के मद से उन्मत्त इन्द्रियों वाले दुर्जनों के निरादर को क्यों सहें ?

(वै० श० २१)

अरी तृष्णा ! तेरे चक्कर में पड़कर मैंने धन की इच्छा से समुद्र पार किया, रसायन सिद्धि के फेर में समस्त धातुओं को फूंक डाला, मंत्र सिद्धि के लिए श्मशान पर अनेक रात्रियाँ व्यतीत कीं लेकिन आज तक एक कानी कौडी भी न मिली ।

(वैं० श० ४)

जब भूख से विलखते हुए बच्चे मां की फटी हुई साड़ी को खींचते हुए रो रहे हों और मां खुद भूख से तड़पती हो तो कौन ऐसा पुरुष होगा जो औरों से मांगने पर मजबूर न हो जाता हो ।

(वैं० श० ८)

V8

कष्ट से प्राप्त मृत्तिपिडरूप राज्य के भोगने से क्षुद्र हुए हैं और भूमण्डल के कुछ टुकड़ों पर ही स्वामित्व प्राप्त करने से दरिद्र भी हैं, इस तरह के क्षुद्र और दरिद्र राजाओं से जो यत्किञ्चित् धन की इच्छा करते हैं उन अधम पुरुषों को धिक्कार है ॥२५॥

न बिटा न नटा न गायका न परद्रोहनिबद्धबुद्धयः ।
नृपसद्मनि नामके वयं कुचभारोन्नमिता न योषितः ॥२६॥

न हम विट (परस्त्री से प्रेम करने वाले लम्पटी) हैं, न नट हैं, न गवैया हैं, न दूसरों से द्वेष रखने वाले हैं, न तो कुचों के भार से झुकी हुई स्त्रियाँ ही हैं, फिर हमको राजसभा से क्या सम्बन्ध, राजसभा में तो वे लोग जाया करते हैं जो विट, नट और गायक हुआ करते हैं, निःस्पृष्ट विद्वान् नहीं जाते ॥२६॥

पुरा विद्वत्तासीदुपशमवतां क्लेशहतये
गता कालेनासौ विषयसुखसिद्धयै विषयिणाम् ।
इदानी सम्प्रेक्ष्य क्षितितलभुजः शास्त्रविमुखा-
न हो कष्टं साऽपि प्रतिदिनमधोऽधः प्रविशति ॥२७॥

पूर्वकाल में विद्या विद्वानों के क्लेश को नाश करने के लिए हुआ करती थी, कुछ काल के अन्तर से वही विषयी पुरुषों के विषय सुख का साधन बन बैठी, अब इस समय राजाओं को शास्त्र से विमुख देखकर वह प्रतिदिन नीचे ही नीचे होती जा रही है, अहो, बड़े कष्ट की बात है ॥२७॥

स जातः कोऽप्यासीन्मदनरिपुणा मूर्ध्निधवलं
कपालं यस्योच्चैर्विनिहितमलङ्कारविधये ।
नृभिः प्राणत्राणप्रवणमतिभिः कैश्चिदधुना
नमद्भिः कः पुन्सामयमतु लदर्पज्वरभरः ॥२८॥

ऐसा भी कोई सफल जन्मा मनुष्य उत्पन्न हुआ था जिसके शुभ कपाल को कामदेव के शत्रु भगवान् शंकर ने अपनी शोभा के लिए मस्तक पर धारण किया था, इतनी बड़ी उपयोगिता मनुष्य के अंग की होने पर भी उसको तनिक भी अभिमान न था परन्तु इस समय लोग अपने तुच्छ प्राणों की रक्षा कर इतने अभिमान ग्रस्त हो गये हैं जिसका कोई ठिकाना नहीं। तात्पर्य यह हुआ कि मरने के बाद भी जिसका कपाल आदर पूर्वक मस्तक जैसे ऊँचे स्थान पर रक्खा जाता है उसी पुरुष का जन्म सफल है और बाकी पुरुषों का जन्म निष्फल है ॥२८॥

अर्थानामीशिषे त्व वयमपि च गिरामीश्महे यवदर्थं
शूरस्त्वं वादिदर्पज्वरशमनविधावक्षय पाटवं नः !
सेवन्ते त्वां धनाढ्या मतिमहलहतये मामपि श्रोतुकामा
मय्यप्यास्थान चेत्तत्वयि मम सुतरामेषराजन्गतोऽस्मि ॥२६॥

हे राजन् ! यदि धन पर तेरा प्रभुत्व है तो साथ के शब्दों पर मेरा प्रभुत्व है, यदि तू शूर है तो हम भी वादियों के घमण्ड रूपी ज्वर को नाश करने में प्रवीण हैं, यदि धनी लोग आपके सेवक हैं तो बुद्धि की मलीनता को दूर करने के लिए शास्त्र श्रवण की इच्छा रखने वाले मेरे भी सेवक हैं, इस तरह हमारे और आप में कोई अन्तर न रहने पर भी यदि हम पर तुम्हारी श्रद्धा नहीं है तो तुम पर हमारी भी श्रद्धा नहीं है, इसलिए लो हम जाते हैं ॥२६॥

मानेम्लायिनिखण्डितेचवसुवसुनिव्यर्थंप्रायतेऽतिथिनि
क्षीण बन्धुजने गतेपरिजने नेष्टे शनैर्यौवने ।
युक्तं केवलमेतदेव सुधियां यज्जह्नु कन्यापयः
पूतग्रावगिरीन्द्रकन्दरतटोकुन्जे निवास. क्वचित् ॥३०॥

सम्मान के क्षीण होने पर, धन के नष्ट हो जाने पर; अतिथियों के विमुख चले जाने पर, बन्धु वर्ग के नाश हो जाने पर, परिजनों के चले जाने पर और धीरे-धीरे युवावस्था के भी ढल जाने पर बुद्धिमान पुरुष का यही कर्त्तव्य है कि वह भी जाह्नवी के जल कणों से पवित्र हिमालय पर्वत की किन्हीं गुफाओं में वास करे ॥३०॥

परेषां चेतांसि प्रतिदिवसमाराध्य बहुधा
प्रसादं किं नेतुं विशसि हृदयं क्लेशकलिलम ।
प्रसन्ने त्वय्यन्तः स्वयमुदितचिन्तामणिगुणो
विमुक्तः सङ्कल्पः किमभिलषितं पुष्यति न ते ॥३१॥

अरे हृदय ! तू प्रतिदिन अनेकों प्रकार से दूसरों की आराधना कर अत्यन्त प्रयास से मिलने वाले अनुग्रह को प्राप्त करने के लिए क्यों प्रवृत्त हो रहा है ? तू जब अन्तर्मुख होकर अपने स्थान में स्थित रहेगा तो बिना प्रयत्न के ही समस्त अभीष्ट वस्तु को देने वाले चिन्तामणि का स्वयं तेरे में उदय होगा, तो क्या उस समय वह तेरी अभिलाषा पूर्ण न कर सकेगा ॥३१॥

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयं
मानेदैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम् ।
शास्त्रे वादिभयं गुणे खलभयं काले कृतान्ताद् भयम्
सर्वं वस्तुभयान्वितं भुवि नृणां शम्भोः पद निर्भयम् ।३२॥

भोग में रोग का भय, ऊँचे कुल में उत्पन्न होने पर उससे नीचे गिरने का भय, धन रहने पर राजा का भय, मान में दीनता का भय, बल रहने पर शत्रु का भय, सौन्दर्य रहने पर वार्धक्य का भय, वेदान्तादि शास्त्र के रहने पर वाद-विवाद का भय,

विनय आदि गुणों के होने पर दुष्टों का भय, शरीर रहने पर यम का भय, कहने का तात्पर्य यह कि इस संसार में सभी पदार्थ भय से व्याप्त हैं, केवल एकमात्र भगवान् शिवजी का चरण ही निर्भय का स्थान है ।।३२।।

अमीषां प्राणानां तुलितबिसिनीपत्रपयसां
कृते किं नास्माभिर्विगलितविवेकैर्व्यवसितम् ।
यदाढ्यानामग्रे द्रविणमद निः शङ्कमनसां
कृतं वीतव्रीडैर्निजगुणकथापातकमपि ।।३३।।

कमलिनी के पत्तों पर स्थित जलबिन्दु की तरह अतिभंगुर (तुरत नाश होने वाले) इस प्राणों के लिए कर्तव्याकर्तव्य का तनिक भी विचार न करते हुए हम लोगों ने क्या-क्या नहीं कर डाला, जबकि धन के मद से उन्मत्त धनिकों के आगे निर्लज्ज होकर अपने मुँह से अपनी बड़ाई के रूप पातक को करने में भी नहीं हटे ।।३३।।

सा रम्या नगरी महान्स नृपतिः सामन्तचक्रं चतत् ।
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननः
उद्रिक्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते बन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः ।।३४।।

वह पहले देखी गई मनोहर नगरी, सर्व गुण सम्पन्न वह राजा, वह लोकोत्तर उसके आधीन रहने वाले राजाओं का चक्र, उसके आसपास बैठने वाले वे पण्डितगण, परम सुन्दरी स्त्रियों का वह वर्ग, अत्यन्त प्रतापी राजपुत्रों का वह समूह, अति प्रवीण वे बन्दी और उस समय की आदर्श चरित वे कथाएं आदि सब

बातें जिस काल के वश होकर नाम शेष हो गईं उस काल को हम नमस्कार करते हैं ।।३४।।

वयं येभ्यो जाताश्चिरपरिगता एव खलु ते
समं यैः संवृद्धाः स्मृतिविषयतां तेऽपि गमिताः ।
इदानीमेते स्मः प्रतिदिवसमासन्नपतना
गतास्तुल्यावस्थां सिकतिलनदीतीरतरुभिः ।।३५।।

हम जिनसे उत्पन्न हुए उन माता पिताओं को गये बहुत दिन हो गये, जिनके साथ बढ़े थे वे भी आज नाम शेष हो गये, अब इस समय हम लोग नदी के किनारे बालू में उत्पन्न वृक्षों की तरह दिन-दिन मृत्यु के निकट पहुँचते जा रहे हैं ।।३५।।

यात्रानेकः क्वचिदपि गृह तत्र तिष्ठत्यथैको
यत्राप्येकस्तदनु बहवस्तत्र नैकोऽपि चान्ते ।
इत्थ चेमौ रजनिदिवसौ दोलयन्द्वाविवाक्षौ
कालः काल्या भुवनफलके क्रीडति प्राणशारैः ।।३६।।

जहाँ अनेक थे, आज वहाँ एक दिखाई दे रहा है, जहाँ एक था वहाँ अनेक दिखाई दे रहे हैं और अन्त में एक भी नहीं रह जाता है इस तरह रात और दिन रूप दो पासों को फेंकता हुआ यह कालपुरुष अपनी स्त्री काली के साथ प्राणों का पासा बना कर संसार रूपी चौपड़ खेल रहा है ।।३६।।

तपस्यन्तः सन्तः किमधिनिवसामः सुरनदीं
गुणोदारान्दारानुत परिचरामः सविनयम् ।
पिबामः शास्त्रौघानुत विविधकाव्यामृतरसान्
न विद्मः किं कुर्मः कतिपयनिमेषायुषि जने ।।३७।

हम नहीं जानते कि क्षणिक जीवन में इस शरीर से हम क्या करें—तपस्या करते हुए गंगाजी के तट पर निवास करें अथवा गुणों से उदार अपनी स्त्री की सविनय सेवा किया करें, किंवा वेदान्तादि शास्त्रों का श्रवण करें या काव्यरूपी अमृत का पान करें ।।३७।।

गङ्गातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य ।
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशङ्काः
कण्डूयन्ते जरठहरिणाः स्वाङ्गमङ्गे मदीये ।३८।।

क्या मेरे वे अच्छे दिन आवेंगे जब मैं गंगा के तट पर हिमालय पर्वत की चट्टान पर पद्मासन लगकार बैठा रहूँ ? और उस समय निर्भय होकर बूढ़े हरिण अपनी खुजलाहट मिटाने के लिए हमारे शरीर में अपने शरीर को रगड़ने के लिए आया करें ।।३८।।

स्फुरत्स्फारज्योत्स्ना धवलिततले क्वापि पुलिने
सुखासीनाः शान्तध्वनिषु रजनीषु द्युसरितः ।
भवाभोगोद्विग्नाः शिव शिव शिवेत्यादिवचसा
कदा स्यामानन्दोद्गतबहुलबाष्पाप्लुतदृशः ।।३९।।

सुनसान चन्द्रिका की रात्रि में गंगा जी के वालुकामय तट पर सुख पूर्वक बैठे हम सांसारिक प्रपञ्च से उद्विग्न होकर शिव शिव शिव शिव कहते हुए अपनी आँखों को आनन्द के आँसुओं से कब परिपूर्ण करेंगे ।।३९।।

महादेवो देवः सरिदपि च सैषा सुरसरिद्
गुना एवागारं वसनमपि ता एव हरितः ।
सुहृद्वा कालोऽयं व्रतमिदमदैन्यव्रतमिदं
कियद्वा वक्ष्यामो वटविटप एवास्तु दयिता ।।४०।।

महादेव ही मेरे एकमात्र आराध्य देव हैं, गंगा ही एकमात्र नदी हैं; पर्वतीय कन्दरा ही घर हैं, दिशायें ही वस्त्र हैं, काल ही मित्र है, किसी के सामने दीन न होना यह एकमात्र व्रत है, कहाँ तक कहें वट वृक्ष ही दयिता है। तात्पर्य यह कि विरक्त पुरुष की जीवन यात्रा के लिए येही पदार्थ पर्याप्त हैं ।।४०।।

आशानाम नदी मनोरथ जला तृष्णातरङ्गाकुला
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रमध्वंसिनी ।
मोहावर्तमुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तङ्गचिन्तातटी
तस्या पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्तियोगीश्वराः ।।४१।।

आशा नाम की एक नदी है मनोरथरूपी जल जिसमें भरा है, तृष्णा जिसकी लहरें हैं, राग-द्वेष जिसके मगर और घड़ियाल हैं, अपने अनुकूल और प्रतिकूल होने वाले पदार्थों के निर्णय करने के विचार धारा रूपी वितर्क ही जिस पर पक्षी के रूप में विचर रहे हैं, जिसका प्रवाह धैर्य रूपी वृक्ष को गिरा रहा है, मोह रूप भँवर से जो अत्यन्त खतरनाक और अति कठिन है और वड़ी-बड़ी चिन्ताएँ जिसके तट हैं, ऐसी नदी के पार गये हुए शुद्धान्तःकरण वाले बड़े-वड़े योगिराज ही आनन्द को प्राप्त होते हैं ।।४१।।

आसंसार त्रिभुवनमिदं चिन्वतां तात
ताहृङ्नैवास्माकं नयनपदवीं श्रोत्रवर्त्मागतो वा ।
योऽयं धत्ते विषयकरिणीगाढगूढाभिमानक्षीबस्यान्तः
करणकरिणः संयमानायलीलाम् ॥४२॥

हे पिता ! सृष्टि के आरम्भ से मैंने सारा संसार छान डाला पर न ऐसा कोई सुनने में आया न देखने में आया जो विषयरूपी हथिनी में अति रूढ़ और गूढ़ अभिमान से उन्मत्त अन्तःकरणरूपी हाथी को समय रूपी रस्सी पे रोक ले ॥४२॥

विद्या नाधिगता कलङ्करहिता वित्त च नोपार्जितं
सुश्रूषापि समाहितेन मनसा पित्रोंन सम्पादिताः ।
आलोलायतलोचना युवतयः स्वप्नेऽपि नालिङ्गिताः
कालोऽयं परपिण्डलोलुपतया काकैरिव प्रेयते ॥४३॥

न तो हमने निष्कलंक विद्या पढ़ी, न धन ही कमाया, न तो माता-पिता की सेवा ही की, और न स्वप्न में भी चंचल लोचना सुन्दरी का आलिगन किया। हमने तो कौओं की भाँति दूसरों द्वारा दिए गये पिण्ड की लोलुपता में ही समय त्रिता दिया ॥४३॥

वितीर्णे सर्वस्वे तरुणकरुणपूर्णहृदयाः
स्मरन्तः संसारे विगुणपरिणामां विधिगतिम् ।
वय पुण्यारण्ये परिणतशरच्चन्द्रकिरणास्त्रियामा
नेष्यामो हरचरणचिन्तकशरणाः ॥४४॥

अपना सर्वस्व याचकों को बांटकर करुणापूर्ण हृदय होकर और संसार में विषम परिणाम वाली दैवगति को स्मरण करते

हुए हम पवित्र तपोवन में भगवान् शंकर के चरणों की शरण लेकर शरद् ऋतु की चाँदनी रात कब व्यतीत करेंगे ।।४४।।

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलैः
सम इव परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।
स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ।।४५।।

हे राजन् ! यहाँ हम पेड़ की छालों से सन्तुष्ट हैं और तू रेशमी वस्त्रों से, हमारे और तुम्हारे सन्तोष में कोई अन्तर नहीं हैं, संतोष दोनों का एक ही समान है । परन्तु जिनको धनलिप्सा अधिक है वही पुरुष दरिद्र हैं, क्योंकि मन के संतुष्ट होने पर न कोई धनी है, न कोई दरिद्र है ।।४५।।

यदेतत्स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशन
सहार्यैः संवासः श्रुतमुपशमैकव्रतफलम् ।
मनो मन्दस्पन्दं बहिरपि चिरयापि विमृशन्नजाने
कस्यैषा परिणतिरुदारस्य तपसः ।।४६।।

स्वछन्द बिहार करना, बिना दीनता के भोजन मिलना, सत्पुरुषों की संगति होना, मानसिक शान्ति को देने वाले शास्त्रों का श्रवण करना, सांसारिक भावों में मन की प्रवृत्ति का मन्द होना आदि का चिरकाल तक विचार करने पर भी नहीं मालूम कि यह सब किस बड़ी तपस्या का फल है ।।४६।।

पणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं
विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकमचपलं तल्पमस्वल्पमुर्वी ।

येषां निःसङ्गताङ्गीकरणपरिणतस्वात्मसंतोषिणस्ते
धन्या संन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराकर्मनिर्मूलयन्ति ॥४७॥

वे धन्य हैं जिनका हाथ ही पवित्र पात्र है, भ्रमण द्वारा प्राप्त भिक्षा ही अक्षय भोजन है, लम्बी चौड़ी दशों दिशाएँ ही जिनका वस्त्र है, पृथ्वी ही जिनकी बड़ी शय्या है, अन्तःकरण के अनासक्ति योग से जो सदा सन्तुष्ट रहा करते हैं और दीनता के भावों को त्याग कर जन्म परम्परा से प्राप्त कर्मों का नाश करते हैं ॥४७॥

दुराराध्याश्चमी तुरगचलचिताः क्षितिभुजो
वयं तु स्थूलेच्छा महति च पदे बद्धमनसः ।
जरा देहं मृत्युर्हरति दयितं जीवितमिदं
सखे नान्यच्छ्रेयो जगतिविदुषोऽन्यत्र तपसः ॥४८॥

घोड़ों के समान चंचल चित्त वाले राजाओं की आराधना करना कठिन काम नहीं है, परन्तु हमारी इच्छाएँ बड़ी हैं और ऊँचे से ऊँचे पदों की प्राप्ति में सदा लालसा लगी रहा करती है, वृद्धावस्था शरीर का नाश करती है और मृत्यु प्रिय प्राण का हरण करती है। इसलिए, हे मित्र ! इस संसार में विवेकी पुरुष के लिए तप को छोड़कर और दूसरा मार्ग कल्याणकारी नहीं है ॥४८॥

भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चला
आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलानाम्बुवद्भंगुरम् ।
लोला यौवनलालसास्तनुभृतामित्याकलय्य द्रुतं
योगे धैर्यसमाधिसिद्धिसुलभे बुद्धिंविदध्वं बुधाः ॥४९॥

सांसारिक भोग मेघों में चमकती बिजली के समान अस्थिर है, आयुष्य वायु द्वारा तितर-वितर किये गये पानी बरसाने वाले मेघों की तरह क्षणभंगुर है, जवानी के उमंग की तरंगे भी

अस्थायी हैं। इसलिए हे विद्वानों ! धैर्य पूर्वक की गई समाधि द्वारा सुलभ योग में मन को लगाइये ॥४९॥

पुण्ये ग्रामे वने वा महति सितपटच्छन्नपालिं कपालिं
ह्यादाभ न्यायगर्भद्विजहुतहुतभुग्धूमधूम्रोपकण्ठम् ।
द्वारं द्वारं प्रविष्टो वरमुदरदरीपूरणाय क्षुधार्तो
मानी प्राणैः स धन्यो न पुनरनुदिनं तुल्यकुल्येषु दीनः ॥५०॥

वह प्राणी धन्य है, जो भूख से व्याकुल होकर अपने उदर रूपी कंदरा को भरने के लिए सफेद कपड़ों से ढके ठीकरे को हाथ में लेकर पवित्र ग्राम में अथवा वन में उनके द्वार पर भीख मांगना अच्छा समझता है, जिनके द्वार ब्राह्मणों द्वारा सतत किए गए मन के धुएँ से काले पड़ गए हैं, परन्तु अपने समान कुलवालों के दरवाजों पर दीन होकर प्रतिदिन भीख मांगना अच्छा नहीं ॥५०॥

चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथ किं तापसः
किंवा तत्वविवेकपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि किम् ।
इत्युत्पन्नविकल्प जल्पमुखरैः सम्भाष्यमाणा जनै
र्नक्रुद्धाःपथिनैव तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः ॥५१॥

क्या यह चाण्डाल है अथवा ब्राह्मण है, शूद्र है किंवा तपस्वी है ? अथवा तत्त्वज्ञान में चतुर कोई योगीश्वर हैं ? इस तरह अनेक प्रकार के संशय से पूर्ण तर्क वितर्क द्वारा मार्ग में छेड़छाड़ किये जाने पर भी न तो चाण्डाल कहने पर क्रुद्ध हुए न तो ब्राह्मण कहने पर प्रसन्न हुए योगी बिना उत्तर दिए चुपचाप चलते ही जाते हैं। ब्रह्मनिष्ठ योगी न तो प्रिय वस्तु प्राप्त कर प्रसन्न होते हैं, न अप्रिय वस्तु से अप्रसन्न ही होते हैं ॥५१॥

विरमत बुधा योषित्सङ्गात्सुखात्क्षणभंगुरात्कुरुत
करुणामैत्रीप्रज्ञावधूजनसंगमम् ।
न खलु नरके हाराक्रान्तं घनस्तनमण्डलं
शरणमथवा श्रोणीबिम्बं रणन्मणिमेखलम् ।।५२।।

हे विद्वानों ! क्षण मात्र के लिए सुख देने वाले स्त्री समागम से अपने मन को हटा लो । करुणा (दु:खियों में दया करना) मैत्री (पुण्यवानों में मैत्री) और प्रज्ञारूपी स्त्रियों से संगम करो । क्योंकि अन्त में नरक में जाने पर मुक्ताहार से सुशोभित पुष्ट स्तन मण्डल अथवा शब्दायमान मणिमेखला (करधनी) वाला नितम्ब मण्डल रक्षा नहीं कर सकेगा ।।५२।।

मातर्लक्ष्मि भजस्व कञ्चिदपरं मत्कांक्षिणा मास्म
भूर्भोगेषु स्पृहयालवो नहि वय का निःस्पृहाणीमसि ।
सद्यः स्यूतपलाशपत्रपुटिकापात्रे पवित्रीकृतै-
र्भिक्षासक्तुभिरेव सम्प्रति वयं वृत्ति समीहामहे ।।५३।।

हे मात लक्ष्मी ! तू अब किसी और को भज, मेरी आशा छोड़ दे । अब विषय भोग में मेरी तनिक भी इच्छा नहीं है, अब तो हम नि:पृही हो गये हैं, हमारे सामने तूँ तुच्छ सी है । क्योंकि अब हम पलास के हरे-हरे पत्तों के दोने में भिक्षा के सत्तू से ही अपना जीवन बिताना चाहते हैं ।।५३।।

यूयं वयं यूयमित्यासीन्मतिरावयोः ।
किं जातमधुना मित्र यूयं यूयं वयं वयम् ।।५४।।

हे सखे ! हम लोगों की पहले धारणा थी कि जो तुम हो वह

हम हैं और जो हम हैं वह तुम हो, हम तुम दोनों एक ही हैं। परन्तु अब क्या हो गया मालूम नहीं कि तुम तुम ही रह गये और हम हम ही रह गये अर्थात् तुम विषयाभिलाषी हो और हम विरक्त हैं, अब तुम्हारे हमारे में पहले की तरह समानता नहीं रही ॥५४॥

रम्य हर्म्यतलं न किं वसयते श्रव्यं न गेयादिक
किं वा प्राणसमासमागमसुखं नैवाधिकं प्रीयते।
किंतु भ्रान्तपतत्पतंगपवनव्यालोलदीपांकुर—
च्छायाचञ्चलमाकलय्य सकलं सन्तो वनान्तं गता ॥५५॥

क्या सन्त महात्माओं के रहने के लिए बड़े-बड़े राजप्रासाद न थे ? क्या उनके सुनने के लिए अच्छे-अच्छे संगीत न थे ? क्या प्राण के समान अत्यन्त प्रिय स्त्रियों का समागम सुख उनको अधिक प्रीति कर न था कि उन्होंने इस संसार को गिरते पतंग की हवा से हिली हुई दीपक की छाया के समान चंचल जानकर निर्जन वन में चला जाना ही श्रेयस्कर समझा ॥५५॥

किंकन्दा: कन्दरेभ्य: प्रलयमुपगता निर्झरावा गिरिभ्य:
प्रध्वस्ता वा तरुभ्य: सरसफलभृतो वल्कलिन्यश्च शाखा:
वीक्ष्यन्ते यन्मुखानि प्रसभमपगतश्रयाणां खलानां
दु:खोपात्तात्पवित्तस्मयपवनशार्नातितभ्रूलतानि ॥५६॥

कन्दराओं में से क्षुधा को दूर करने वाले कन्दमूलादि पदार्थ और तृष्णा को दूर करने वाले पहाड़ी झरने क्या नष्ट हो गये ? अथवा सरस फल और वल्कल से पूर्ण वृक्ष की शाखाएँ विनष्ट हो गई कि अत्यन्त दुर्विनीत खलों के मुखों को याचक लोग देखा

करते हैं, अर्थात् उनका आश्रय लेना पड़ता है जो कि बड़े दुःख से धन के गर्व से चंचल हो रहे हैं ॥५६॥

गंगातरंगकणशीकरशीतलानि
विद्याधराध्युषितचारुशिलातलानि ।
स्थानानि किं हिमवतः प्रलयं गतानि
यत्सावमानपरपिण्डरता मनुष्याः ॥५७॥

हिमालय के वे प्रदेश जो गंगा के तरंगों द्वारा ठंडे जलकणों से शीतल थे और जहाँ के शिलाओं पर विद्याधर बैठे रहा करते थे । क्या आज नष्ट हो गये कि मनुष्य अपमान सहन करने पर भी औरों के दिये हुए ग्रास में रत रहा करते हैं ॥५७॥

यदा मेरुः श्रीमान्निपतति युगान्ताग्निहितः
समुद्राः शुष्यन्ति प्रचुरमकरग्राहनिलिया ।
धरा गच्छत्यन्त धरणिधरपादैरपिघृता
शरीरे का वार्त्ता करिकलभकर्णाग्रचपले ॥५८॥

जब श्रीमान् सुमेरु पर्वत प्रलयकालीन अग्नि से निहत होकर धराशायी हो जाता है, बड़े-बड़े ग्राहों का स्थान समुद्र भी सूख जाता है, पर्वतों से धारण की गई पृथ्वी भी लय को प्राप्त हो जाती है, तब हाथी के कानों के अग्र भाग के समान अति चञ्चल इस शरीर का भरोसा ही क्या है ॥५८॥

एकाकी निःस्पृहः शान्त पाणिपात्रो दिगम्बरः ।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मभिर्मूलनक्षमः ॥५९॥

हे शम्भो ! मैं कब अकेला, कामना रहित, शान्त, करपात्री, दिगम्बर और भवबन्धन को निर्मूलन करने वाला होऊँगा ॥५९॥

प्राप्ता श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्।
सम्मानिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पस्थितास्तनुभृतां तनवस्ततः किम् ॥६०।

इच्छानुसार समस्त मनोरथों को देने वाली लक्ष्मी भी यदि प्राप्त हो जाय तो उससे क्या ? शत्रुओं को पद दलित किया तो उससे क्या ? अपने प्रेमी जन को धन आदि से सम्मानित किया तो उससे क्या और यदि कल्प तक जीवित भी रहे तो उससे क्या ? अर्थात् वैराग्य यदि न हुआ तो यह सब व्यर्थ है ॥६०॥

जीर्णा कन्था ततः किं सितममलपटं पट्टसूत्रं ततः किं।
मेकाभार्या ततः किंबहु हयकरिभिः कोटिसंख्यास्ततः किं।
भक्तं भुक्तं ततः किं कदशनमथवा वासरान्ते ततः किं
व्यक्तं ज्योतिर्व्ववान्तर्मथितभवभयं वैभववा ततः किम्।

यदि कथरी जीर्ण भी हो गयी तो उससे क्या ? सफेद और रेशमी वस्त्र को धारण किया तो उससे क्या ? स्त्री एक ही हो तो क्या ? अथवा अनेक हाथी घोड़ों आदि ऐश्वर्य से युक्त करोड़ों हो तो क्या ? मध्याह्न में अच्छा खाने को मिले तो क्या ? सायंकाल में खराव खाने को मिले तो क्या ? तात्पर्य यह हुआ कि—यदि भव वाधा को दूर करने वाले ब्रह्म तेज को हृदय में धारण न किया तो वे सब व्यर्थ हैं ॥६१॥

भक्तिर्भवे मरणजन्मभयं हृदिस्थं
स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकाराः।

संसर्गदोषरहिता विजना वनान्ता
वैराग्यमस्ति किमतः परमर्थनीयम् ॥६२॥

भगवान् शंकर में भक्ति हो, संसार में जन्म लेने और मरने का हृदय में भय न होता हो, अपने भाई-बन्धु और रिश्तेदारों में प्रेम न हो, संसर्ग दोष से रहित निर्जन बन में निवास हो, मन में काम जन्य विकार न हो तो इससे बढ़कर प्रार्थनीय और दूसरा बैराग्य ही कौन है ॥६२॥

तस्मादनन्तमजरं परमं विकासि
तद् ब्रह्म चिन्तय किमेभिरसद्विकल्पैः ।
यस्यानुषंगिण इमे भुवनाधिपत्य—
भोगादयः कृपणलोकमता भवन्ति ॥६३॥

इसलिए अनन्त, वार्धक्य आदि अवस्थात्रय से रहित, अत्यन्त देदीप्यमान परब्रह्म का चिन्तन करो, इन सब मिथ्या भूत पदार्थों की चिन्ता से क्या लाभ ? ब्रह्म के ही आश्रय में आधीन रहने वाले भुवनाधिपत्य, भोग-विलास, आदि उनके ही योग्य हुआ करते हैं जिनमें ब्रह्म विचार का प्रेम नहीं रहता ॥६३॥

पातालमाविशसि यासि नभो विलंघ्य
दिङ्तण्डलं भ्रमसि मानसचापलेन ॥
भ्रान्त्यापि जातु विमलं कथमात्मनानं
तद ब्रह्म न स्मरसि निर्वृतिमेषि येन ॥६४॥

रे मन ! तूँ अपने चाञ्चल्य से कभी तो पाताल में घुस जाता है, कभी तो ऊँचे-से-ऊँचे आकाश तक को पार कर जाता है, कभी सब दिशाओं का चक्कर काट आता है, जब जहाँ के विषय की लालसा होती है, तब वहाँ पहुँच जाते हो, परन्तु भ्रम

वही व्यक्ति ऐश्वर्यशाली राजा की तरह सुखपूर्वक सोता है, जिसकी शैय्या पृथ्वी है, भुजा ही तकिया है, आकाश ही चन्दवा है, अनुकूल वायु ही पंखा है, चन्द्रमा और तारे ही प्रकाशमान दीपक हैं और विरक्ति रूपी स्त्री के संग जो सदा प्रसन्न रहता है।

(वै० श० ६६)

हे मनुष्यों ! सैकड़ों प्रकार के आश-पाश को तोड़ कर निर्मल चित्त होकर कामनाशक भगवान् शंकर में श्रद्धा पूर्वक अपने मन को लगाओ।

(वै० श० ८७)

यदि तुझे राज्य का अभिमान है तो हमें भी ज्ञान का स्वाभिमान है; तेरे पास ऐश्वर्य है तो हमारी विरक्ति भी प्रसिद्ध है। यदि तू हमसे मुंह फेर लेता है तो हम भी तुझसे निःस्पृह रहा करते हैं।

(वैं० श० २३)

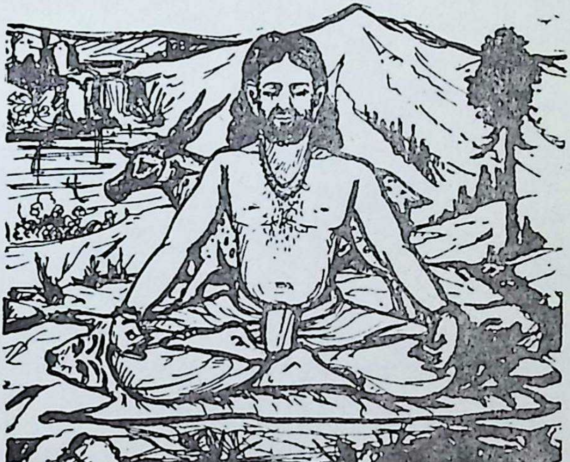

क्या वे दिन आवेंगे जब हिमालय पर्वत की चट्टान पर पद्मासन से बैठे हुए मेरे शरीर से वृद्ध मृग निःशंक होकर रगड़ से अपनी खुजलाहट दूर करेंगे।

(वैं० श० ३८)

से भी कभी निर्मल और आत्म हितकारी उस परब्रह्म परमात्मा का चिन्तन क्यों नहीं करता जिससे यथार्थ सुख प्राप्त होता है ॥६४॥

रात्रिः सैव पुनः स एव दिवसो मत्वाऽबुधा जन्तवो
धावन्त्यु द्यमिनस्तथैव निभृतप्रारब्धतत्तत्क्रियाः ।
व्यापारः पुनरुक्तभूतविषयरेवंविधेनाऽमुना
संसारेण कदर्थिताः कथमहो मोहान्न लज्जामहे ॥६५॥

वही पूर्वानुभूत रात्रि है और वही पूर्वानुभूत दिवस है, इस बात को संसारी अच्छी तरह जानते हैं फिर भी पहले से प्रारब्ध कर्म को पूर्ण करने के लिए उन्हीं व्यापारों को करने में लीन रहा करते हैं जिनको कि वे पहले से करते आये हैं। इस प्रकार के इस संसार से निन्दा के पात्र हम अज्ञान के कारण लज्जित नहीं हो रहे हैं ? ॥६५॥

स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरतिवनितासंगमुदितः
महि रम्या शय्या विपुलपधानं भुजानं भुजलता
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः ।
सुखं शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृ इव ॥६६॥

वही शान्त मुनि, विशिष्ट ऐश्वर्यशाली राजा की तरह सुख पूर्वक सोया करता है, जिसकी उत्तम शय्या पृथ्वी पर है, भुजा ही बड़ी तकिया है, आकाश ही चन्दवा है, अनुकूल वायु ही पंखा है, चन्द्रमा ही प्रकाशमान दीपक है, और विरक्तिरूपी स्त्री के संग जो सदा प्रसन्न रहा करता है ॥६६॥

त्रैलोक्याधिपतित्वमेव विरसं यस्मिन्महाशासने
तल्लब्ध्वाशनवस्त्रमानघटने भोगे रतिं मा कृथाः ।

भोगः कोऽपि स एक एक परमो नित्योदितो जृम्भते
यत्स्वादाद्विरसा भवन्ति विषयास्त्रैलोक्यराज्यादयः ।।६७।।

अरे मन! जिस परब्रह्म के महाशासन में त्रिभुवन का भी साम्राज्य फीका मालूम पड़ता है, उस शासन को प्राप्त कर। भोजन वस्त्र और मान रूप भोग में प्रीति न कर। वही एक भोग यथार्थ भोग है जो सदा स्थायी और प्रकाशमान है, जिसके स्वाद से त्रैलोक्य के राज्य आदि भी विरस हो जाते हैं ।।६७।।

किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः
स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः ।
मुक्त्वेकं भवबन्धदुःखरचनाविध्वंसकालानलं
स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलन शेषा वणिग्वृत्तयः ।।६८।।

वेद, स्मृति, पुराण और बड़े-बड़े शास्त्रों के पढ़ने से तथा स्वर्गरूपी कुटी में निवास रूप फल को देने वाली क्रियाओं से क्या प्रयोजन है? भव बन्धन रूप दुःख के विध्वंस के लिए उत्पन्न प्रलयाग्नि के समान ब्रह्मानन्दरूप पद प्रवेश को छोड़कर शेष सभी वृत्तियां व्यापार मात्र हैं अर्थात् ब्रह्मज्ञान की वृत्ति को छोड़कर अन्य वृत्तियां फल की आकांक्षा से हुआ करती हैं ।।६८।।

आयुःकल्लोललोलंकतिपयदिवसंस्थायिनी यौवन
श्रीरर्थाः संकल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूराः ।
कण्ठाश्लेषोदगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतं
ब्रह्मण्यासक्त चित्ताभवतभवभयाम्भोधिपारंतरीतुम् । ६९।।

आयु जल तरंग के समान चंचल है जवानी कुछ ही दिनों के लिए रहा करती है, धन मानसिक कल्पना के समान अस्थिर है, वासना भी वर्षाकालीन विद्युद्विलास की तरह चंचल है, प्रियाओं से गले मिलकर दिया हुआ आलिङ्गनरूप सुख भी

चिरस्थायी नहीं है, इसलिए भव-भयरूपी समुद्र से पार होने के लिए परमात्मा में मन लगाओ ॥६९॥

ब्रह्मांण्डं मण्डीमात्र न लोभाय मनस्विनः
शफरीस्फुरितेनाब्धः क्षुब्धता न तु जायते ॥७०॥

यह ब्रह्माण्ड एक बिम्ब फल की तरह है, कभी भी योगियों के मन को लुभा नहीं सकता, समुद्र शफरी (मत्स्य विशेष) के छटपटाने से क्षुब्ध नहीं होता ॥७०॥

यदसीदज्ञानं स्मरतिमिरसंस्कार जनितं
तदा दृष्टं नारीमयमिदमशेषं जगदपि ।
इदानीमस्माकं पटुतरविवेकाञ्जनजुषां
समीभूता दृष्टिस्त्रिभुवनमपि ब्रह्म तनुते ॥७१॥

पहले जिस जवानी में कामदेवरूप तिमिर नाम के नेत्र रोग की व्याप्ति से विवेक नष्ट होकर सारा संसार स्त्रीमय दिखाई देता था । अव इस समय तिमिररूप नेत्र को दूर करने में समर्थ तत्वज्ञान रूप अञ्जन को लगाने वाले हम लोगों की दृष्टि त्रिभुवन् को ब्रह्ममय समझती है ॥७१॥

रम्याश्चन्दमरीचयस्तृणवती रम्या वनान्तस्थली
रम्यं साधुसमायमोद्‌वसुखं काव्येषु रम्याः कथाः ।
कोपोपाहितवाष्पबिन्दुतरलं रम्य प्रियाया मुखं
सर्वं रम्यमनित्यतामुपगते चित्ते न किञ्चत्पुनः ॥७२॥

चन्द्रमा की किरणें रम्य हैं, वनस्थली भी हरे-हरे घासों से सुहावनी मालूम पड़ती है, सत्संग से उत्पन्न सुख भी रम्य ही है, काव्यों की कथाएँ भी रमणीय हैं, प्रणय कोप के कारण उत्पन्न आंसुओं से चंचल प्रिया का मुख भी सुन्दर है ऐसा नहीं, ये सभी चीजें रम्य ही हैं, पर "संसार अनित्य है" इस ज्ञान के उत्पन्न

हो जाने पर वह सब कुछ भी नहीं है अर्थात् यह सारा संसार असार-सा प्रतीत होता है ।।७२।।

भिक्षाशी जनमध्यसङ्गरहितः स्वायत्तचेष्टाः सदा
दानादानविरक्तमार्गनिरतः कश्चित्तपस्वी स्थितः
रथ्याकीर्णविशीर्णजीर्णवसनः सम्प्राप्तकन्थाधरो
निर्मानी निरहंकृतिः शमसुखभोगैकबद्धस्पृहः ।।७३।।

भिक्षान्न मात्र के भोजन से शरीर की रक्षा करने वाले, जन समुदाय में आसक्ति रहित, सदा अपनी इच्छानुसार विहार-निरत, त्यागने योग्य वस्तु के त्यागने में और ग्रहण करने योग्य वस्तु के ग्रहण करने में तत्पर, मार्ग में फेंके हुए फटे पुराने कपड़ों को ही उपयोग में लाने वाले, कथरी का ही आसन बनाकर उस पर बैठने वाले, शान्ति रूप सुख के भोग में ही एकमात्र लौ लगाये हुए अतएव मान और अहंकार रहित बिरले ही कोई योगी महात्मा हुआ करते हैं ।।७३।।

मातर्मेदिनि तात मारुतः सखे तेजः सुबन्धो जल
भ्रातर्व्योम निबद्ध एष भवतामन्त्यः प्रणामाञ्जलिः ।
यष्मत्सङ्गवशोपजातसुकृतोद्रकस्फुर न्निर्मल-
ज्ञानापास्तसमस्त मोह महिमां लिये परब्रह्मणि ।।७४।।

हे माता पृथ्वी ! हे पिता वायु ! मित्र तेज ! हे सुबन्धु जल ! और हे भाई आकाश ! यह मैं हाथ जोड़ आपके आगे प्रणाम करता हूँ आपकी संगति के कारण उत्पन्न पुण्य की अधिकता से प्रकाशमान ज्ञान द्वारा मोह महिमा को नष्ट कर आप में परब्रह्म परमात्मा में लीन होने जा रहा हूँ ।।७४।।

यावत्स्वमिदं कलेवरगृह यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।

आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ।७५।।

जब तक यह शरीर स्वस्थ और निरोग है, जब तक इन्द्रियाँ अपने-अपने कामों में समर्थ हैं और जब तक आयुष्य का नाश नहीं होता तभी तक अपने कल्याण के निमित्त विद्वान को प्रयत्न करना चाहिए। घर में आग लग जाने पर कूँआ खोदने का प्रयत्न करना व्यर्थ है ।।७५।।

नाभ्यस्ता भुवि वादिवृन्ददमनी विद्या विनीतोचिता
खड्गाग्रैः करिकुम्भपीठदलनैर्नाकं न नीतं यशः ।
कान्ताकोमलपल्लवाधररसः पीतो न चन्द्रोदये
तारुण्यं गतमेव निष्फलमहो शून्यालये दीपवत् ।।७६।

न तो मैंने विरोधियों का मुख मर्दन करने वाली विद्या ही पढ़ी न तो खड्गाग्र से हाथियों के मुख पीठ को चीर कर ही यश को स्वर्ग तक पहुँचाया और न तो चन्द्रोदय के समय कान्ता के कमल अधर पल्लव के रस का ही पान किया, इस तरह मेरा तारुण्य सूने घर के दीपक की तरह व्यर्थ ही हुआ ।।७६।।

ज्ञानं सतां मानमदादिनाशनं
केषाञ्चिदेतन्मदमानकारणम् ।
स्थानं विविक्तं यमिनां विमुक्तये
स्थानं विविक्तं यमिनां विमुक्तये ।
कामातुराणामपि कामकारणम् ।।७७।।

ज्ञान एक ऐसी चीज है, जो सज्जनों के मान मद आदि को नाश करती है और वही दुर्जन के मद और मान को बढ़ाती है। जैसे एकान्त स्थान योगी पुरुषों के मुक्ति का साधन है उसी तरह वही स्थान कामी पुरुषों के काम को बढ़ाने वाला है ।।७७।।

जीर्णा एव मनोरथाः स्वहृये यातं जरा यौवनं
हन्तांगेषु गुणाश्च वन्ध्यफलतां याता गुणज्ञैर्विना ।
किं युक्तं सहसाभ्युपैति बलवान्कालः कृतान्तोऽक्षमी
हाज्ञातं मदनांतकोंघ्रियुगलं मुक्त्वास्तिनान्यागतिः ॥७८॥

मनोरथ हृदय के हृदय ही में जीर्ण शीर्ण हो गये, जवानी वृद्धावस्था में परिणत हो गई, गुणज्ञों के न रहने से सारे गुण अंग में ही निष्फल हो गये, अब क्षमा न करने वाला बलवान् यम आ रहा है, इस अवस्था में क्या करना चाहिए ? अब तो भगवान् शंकर के चरण युगल को छोड़कर और कोई दूसरी गति नहीं है ॥७८॥

स्नात्वागांगैः पयोभिः शुचिकुसुमगलैरर्चयित्वाविभोत्वां
ध्येये ध्यानं नियोज्य क्षितिधरकुहरग्रावपर्यङ्कमूले ।
आत्मारामः फलाशी गुरुवचनरतस्त्वत्प्रसादात्स्मरारे ।
दुःखान्मोक्ष्येकदाहंतवचरणारतो ध्यानमार्गैकनिष्ठः ॥७९॥

हे स्मरारे ! गंगाजल से स्नान कर, हे विभो ! पवित्र फूलों और फलों से आपकी पूजा कर पर्वत की कन्दरा की चट्टान रूपी शय्या पर बैठे ध्यान करने योग्य आप में अपने आप को लीन कर केवल फलाहार करता हुआ गुरुओं के बताये मार्ग का अनुसरण करने वाला ध्यान मार्ग का पथिक मैं आपकी कृपा से आपके चरणों में अनुराग रखकर इस भवसागर से कब मुक्त होऊँगा ॥७९॥

शय्या शैलशिला गृहं गिरिगुहा वस्त्रं तरूणां त्वचः
सारंगा सुहृदो ननु क्षितिरुहां वृत्तिः फलैः कोमलैः ।
येषां नैर्झरमम्बुपानमुचितं रत्यै च विद्यांगनाः
मन्यन्तेपरमेश्वराः शिरसि यैर्बद्धो न सेवाञ्जलिः ।८०॥

हम उनको परमेश्वर समझते हैं जिन्होंने पर्वतीय शिला को शय्या बनाया है, पर्वतीय कन्दरा जिनका गृह है। वृक्षों के फलों से जो उदर पूर्ति करते हैं, झरने के पानी से ही जिनकी तृपा निवृत्त होती है, विद्या रूपी स्त्री में ही जिनका अनुराग है और जिन्होंने कभी भी सेवा के लिए दूसरों के सामने अपना हाथ नहीं बाँधा है ॥८०॥

उद्यानेषु विचित्रभोजनविधिस्तीव्रातितीव्रं तपः
कौपीनावरणं सुवस्त्रमभितो भिक्षाटनं मण्डनम्।
आसन्न मरणं च मंगलसमं यस्या समुत्पद्यते
तां काशीं परिहृत्य हन्त विबुधैरन्यत्र किं स्थीयते ॥८१॥

जहाँ वगीचे में भिन्न-भिन्न प्रकार के भोजन वनाकर खाना ही तीव्र तप है, जहाँ लंगोटी लगाना ही उत्तम वस्त्र है, भिक्षा वृत्ति ही भूपण है और जहाँ मृत्यु का होना मंगल के समान है, उस काशी का परित्याग कर पण्डित लोग अन्यत्र क्यों रह रहे हैं ॥८१॥

नायं ते समयो रहस्यमधुना निद्राति नाथो यदि
स्थित्वा द्रक्ष्यति कुप्यति प्रभुरिति द्वारेषु येषांवचः।
चेतस्तानपहाय याहि भवनं देवस्य विश्वेशितु-
र्निर्दौवारिकनिर्दयोक्त्यपुरुषं निःसीमशर्मप्रदम् ॥८२॥

रे मन ! जिनके द्वार पर द्वारपाल भिक्षुओं से यह कहते हैं कि यह समय तुमसे मिलने का नहीं है, महाप्रभु इस समय एकान्त में सो रहे हैं, यदि उठने के वाद बाहर आकर तुमको यहां बैठे देखेंगे तो वे क्रुद्ध हो जायेंगे। ऐसे मदोन्मत महाप्रभुओं

के पीछे अपने जीवन को नष्ट कर देवादिदेव विश्वेश्वर की शरण जाओ जहां न कोई रोकने वाला है, न कठोर वचन कहने वाला है, बल्कि असीम सुख देने वाला है ॥८२॥

> प्रियसख विपद्दण्डव्रातप्रतापपरम्परा—
> परिचयचले चिन्ताचक्रे निधाय विधिः खलः।
> मृदमिव बलापिण्डीकृत्य प्रगल्भकुलालवद्भ्रमयति
> मनो नो जानीमः किमत्र विधास्यति ॥८३॥

हे प्रिय मित्र ! यह शठ विधाता, चतुर कुम्हार की तरह विपत्तिरूपी दण्ड के मार की परम्परा से अत्यन्त चंचल चिन्तारूपी चक्र पर मिट्टी के पिण्ड की तरह मेरे मन को घुमाता रहता है, हम नहीं जानते कि वह इससे क्या वनाना चाहता है ॥८३॥

> महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि।
> तयोर्न भेदप्रतिपत्तिरस्ति मे तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे ॥८४॥

यद्यपि भगवान् शंकर में और विष्णु जनार्दन में कोई भेद मालूम नहीं पड़ रहा है, फिर भी जिनके शिर पर तरुण चन्द्रमा विराजमान है उन्हीं में हमारी भक्ति है ॥८४॥

> रे कंदर्प करं कदर्थयसि किं कोदण्डटङ्कारवै
> रे रे कोकिलः कोमलैः कलरवैः किं त्वं वृथा जल्पसि ।
> मुग्धे स्निग्धविदग्धक्षेपमधुरैर्लोलैः कटाक्षेरलं
> चेतश्चुम्बित चन्द्रचूडचरणध्यानामृते वर्तते ॥८५॥

हे कामदेव ! धनुष के टंकारों से अपने हाथ को क्यों कष्ट दे रहा है, अरी कोयल ! तू अपनी कोमल वाणी से क्यों व्यर्थ बड़बड़ा रही है, अरी सुन्दरी ! अपने सुन्दर, चतुर और चंचल

कटाक्षों को अब न फेंक, हटा ले, क्योंकि मेरा मन अब चन्द्रशेखर भगवान् के चरणों के ध्यानरूपी अमृत में मग्न है ।।८५।।

कौपीनं शतखण्डजर्ज्जरतरं कन्था पुनस्तादृशी
नैश्चिन्त्य सुखसाध्यभैक्ष्यमशन निद्राश्मशाने वने ।
मित्रामित्रसमानतातिविमला चिन्ताऽथ शून्यालये
ध्वस्ताशेष मदप्रमादमुदितोयोगी सुखं तिष्ठति ।।८६।।

जिनका कौपीन (लंगोटी) जीर्ण होकर टुकड़े-टुकड़े हो गया है और कथरी भी इसी तरह हो गई और जो स्वयं निश्चिन्त है, भोजन के लिए भिक्षान्न जिनको सुख से प्राप्त है, जिसकी निद्रा श्मशान में अथवा वन में हुआ करती है, शत्रु और मित्र में जिनका समान भाव है, अत्यन्त एकान्त स्थान में जिनकी समाधि लगा करती है, और मद मोह आदि सभी दोष जिसके नष्ट हो चुके हैं, ऐसे योगी इस संसार में सुख पूर्वक रह सकते हैं ।।८६।।

भोगा भंगुरवृत्तयो वहुविधास्तैरेव चायं भवस्तत्कस्येह
कृतं वरिभ्रमत रे लोकाः कृतं चेष्टितैः ।
आशापाशशतोपशान्तिविशदं चेतः समाधीयतां
कामोच्छेत्तृहरे स्वधामनि यदि श्रद्धेयमस्मद्वचः ।।८७।।

हे मनुष्यो ! इस संसार में जो नाना प्रकार के क्षणिकआदि सुख देने वाले भोग हैं, वे ही जन्म-मरण के कारण हैं, ऐसी वात को जानते हुए भी आप यहाँ किसके लिए भ्रमण कर रहे हो, ऐसे क्षणिक भोग के लिए व्यापार करना व्यर्थ है, सैकड़ों प्रकार के आशा पाश को तोड़कर निर्मल चित्त होकर काम नाशक भगवान् शंकर में श्रद्धा पूर्वक अपने मन को लगाओ ।।८७।।

धन्यानां गिरिकन्दरे निवसतां ज्योतिः परं ध्यायता-
मानन्दाश्रु जलं पिवन्ति शकुना निःशङ्कमङ्कशयाः ।

अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट-
क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परं क्षीयते ।।८८।।

वे धन्य हैं, जो पर्वतीय कन्दराओं में निवास करते हैं और परब्रह्म की ज्योति का ध्यान करते हैं, कि जिनके आनन्दजनित आंसुओं का पक्षीगण उनके ही गोद में बैठकर निःशंक पानक्रिया करते हैं, मनोरथ से वनी हुई बावली के तट के क्रीडोद्यान में विलास करने वाले हम लोगों की आयु तो यों ही क्षीण होती जा रही है ।।८८।।

आक्रान्तं मरणेन जन्म जरसा विद्युच्चलं यौवनं
संतोषो धनलिप्सया शमसुखं प्रौढाङ्गनाविभ्रमैः ।।
लोकैर्मत्सरिभिर्गुणा वनभुवो व्यालैर्नृपा दुर्जनै-
रस्थैर्येण विभूतयोऽप्युपहता ग्रस्तं न किं केनवा ।।८९।।

जन्म मृत्यु से विद्युत के समान अस्थिर यौवन वार्धक्य से, संतोष धन की लिप्सा से, शान्ति सुख तरुण युवतियों के विलासों से, गुण डाह करने वाले दुष्टजनों से, वन सर्पों से, राजा दुर्जनों से ऐश्वर्य अस्थिरता से आक्रान्त है, किससे कौन आक्रान्त नहीं है, अर्थात् संसार उपादेय सभी पदार्थ किसी न किसी से आक्रान्त हैं इसलिए जो किसी से आक्रान्त नहीं है, उस ब्रह्म की आराधना करो ।।८९।।

आधिव्याधिशतैर्जनस्य विविधैरारोग्यमुन्मूल्यते
लक्ष्मीर्यत्र पतन्ति तत्र विवृतद्वारा इव व्यापदः ।
जातं जातमवश्यमाशु विवश मृत्युः करोत्यात्मसा-
त्तत्किंनाम निरंकुशेन विधिनायन्निर्मितं सुस्थितम् ।।९०।।

अनेक प्रकार की मानसिक चिन्तायें तथा शारीरिक व्याधियां पुरुष के स्वास्थ्य को नष्ट कर देती हैं, जहाँ लक्ष्मी का वास रहता है, वहां आपत्तियों की भी भरमार रहा करती है, जो उत्पन्न होता है, मृत्यु उनको अवश्य ही अपने वश कर लेती है, इस परिस्थिति में कौन-सी वस्तु है, जिसको विधाता ने स्थिर बनाया है ।।९०।।

आयुर्वर्षशतं नृणां परिमित्तं रात्रौ तदर्धं गतं
तस्यार्द्धस्य परस्य चार्द्धमपरं बालत्व वृद्धत्वयोः ।
शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते
जीवे वारितरङ्गचञ्चलतरे सौख्यं कुतःप्राणिनाम् ।।९१।।

मनुष्य की पूर्ण आयु एक सौ वर्ष की है. उसमें से आधी आयु ५० वर्ष रात्रि में सोकर विता दी, वाकी वचे पचास में से २५ वर्ष लड़कपन और वुढ़ापे में वीत गये, इससे वचे २५ वर्ष रोग, पुत्रकलह आदि का वियोग आदि दुःख में तथा अपनी जीविका के लिए धनी लोगों की सेवा आदि में वींत जाता है, तो अव जलतरंग के समान चंचल इस जीवन में प्राणी को सुख कैसे मिल सकता है ? ।।९१।।

गंगातारे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य ।
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशंकाः
कण्डूयन्ते जरडहरिणाः स्वांगमंगे मदीये ।।९२।।

क्या वे दिन आयेंगे जबकि पतितपावनी भगवती भागीरथी के तट पर हिमालय पर्वत की चट्टान पर पद्मासन से बैठे हुए

मेरे शरीर में वृद्ध मृग निःशंक होकर शरीर की खुजलाहट को अपनी रगड़ से दूर करेंगे ।।९२।।

फलमलमशनाय स्वादुपानाय तोयं
क्षितिरपि शयनार्थं वाससे वल्कलञ्च ।
नवधनमधुपानभ्रान्तसर्वेन्द्रियाणा
मविनयमनुमन्तुं नोत्सहे दुर्जनानाम् ।।९३।।

जब कि भोजन के लिए फल, पीने के लिए पानी, सोने के लिए पृथ्वी, पहनने के लिए पेड़ की छाल पर्याप्त हैं, तब हम धन के मद से उन्मत्त इन्द्रियों वाले दुर्जनों के अविनय को क्यों सहें ।।९३।।

कृच्छ्रेणामेध्यमध्ये नियमिततनुभिः स्थीयते गर्भवासे
कान्ताविश्लेषदुःखव्यतिकरविषमे यौवने चोपभगः ।
नारीणामप्यवज्ञाविलसितनियतं वृद्धभावोऽप्यसाधुः
संसारेरेमनुष्यावदतयदि सुखंस्वल्पमप्यस्तिकिञ्चत् ।।९४।।

गर्भवास में अपने शरीर को संकुचित कर अपवित्र मलमूत्र में किसी तरह रहना पड़ता है, यौवन में विषय सुख प्रिया के वियोग दुःख से अत्यन्त कष्टप्रद है, वृद्धावस्था भी इन्द्रियों के शिथिल हो जाने के कारण परिहास का कारण हो जाती है, तो हे मनुष्यो ! आप ही कहो, क्या इस संसार में तनिक भी सुख है ? ।।९४।।

अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः ।
सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ।।९५।।

दरिद्र, संयमी, शान्त और शत्रु मित्र में एक समान विचार रखने वाले, सदा सन्तोषी पुरुष के लिए सारी दिशायें आनन्द देने वाली हैं ॥९५॥

चला लक्ष्मीश्चलाः प्राणाश्चलं जीवितयौवनम् ।
चलाचले च संसारे धर्म एकोहि निश्चलः ॥९६॥

लक्ष्मी चंचल है, प्राण चंचल है, जीवन और यौवन दोनों ही चंचल हैं, इस तरह चल और अचल संसार में एकमात्र धर्म ही निश्चल है ॥९६॥

भिक्षा कामदुधा धेनुः कन्था शीतनिवारिणी ।
अचलातु शिवे भक्तिर्विभवैः किम्प्रयोजनम् ॥९७॥

जब भिक्षा भी कामधेनु है, कथरी ही जाड़ा मिटाने वाली है, शिव में ही अचल भक्ति है तो फिर ऐश्वर्य की आवश्यकता ही क्या है ? ॥९७॥

कदा संसार जालान्तर्बद्धं त्रिगुणारज्जुभिः ।
आत्मानं मोचयिष्यामि शिवभक्तिशलाकया ॥९८॥

भवजाल के भीतर त्रिगुणमयी रज्जु से बंधी आत्मा को शिव भक्ति रूप शलाका से मैं कब छुड़ा सकूँगा ॥९८॥

चला विभूतिः क्षणभंगि यौवनं
कृतान्तदन्तान्तरवर्ति जीवितम् ।
तथाप्यवज्ञा परलोकसाधने
नृणामहो विस्मयकारि चेष्टितम् ॥९९॥

ऐश्वर्य चंचल है, यौवन क्षणिक है मनुष्य जीवन यम के दांतों के मध्य में है, फिर भी मनुष्यमात्र परलोक प्राप्ति के

साधन में उपेक्षा करता जा रहा है, अहो ! मनुष्य का यह व्यापार कितना आश्चर्यकारी है ॥९९॥

पृथिवी दह्यते यत्र मेरुश्चापि विशीर्यंते ।
शुष्यत्यम्भोनिधिजलं शरीरे तत्र का कथा ॥१००॥

जिस विधाता की सृष्टि में पृथ्वी जलकर खाक हो जाती है, सुमेरु पवत भी टुकड़े-टुकड़े हो जाता है, समुद्र भी सूख जाता है वहां शरीर की बात ही क्या है ? ॥१००॥

॥ वैराग्य शतक समाप्तम् ॥

नीतिशतक

कभी सत्य—कभी मिथ्या
कभी कठोर—कभी मधुर वचन बोलने वाली
कभी घातक—कभी दया युक्त
कभी स्वार्थी—कभी परोपकारी
नित्य ही खूब धन कमाने वाली और
नित्य ही खूब धन खर्च करने वाली
'राजनीति' वेश्या के समान हुआ करती है।

**

धन की तीन ही गति हुआ करती हैं—
दान, भोग और नाश।
जो व्यक्ति न दान करता है, न भोगता है,
उसके धन की तीसरी गति होती है।

—नीति शतक से

॥ श्रीः ॥

अथ नीतिशतकम्

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्र मूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥१॥

समस्त दिशाओं और तीनों कालों में व्याप्त, अविनाशी, ज्ञानमय मूर्ति वाले, अपना अनुभव ही जिनकी सत्ता का साक्षी है, ऐसे शान्त और तेजस्वरूप परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार ॥१॥

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनाऽन्यसक्तः ।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक् तां च त च मदनं च इमां च मां च ॥२॥

निरन्तर जिसको मैं चिन्ता किया करता हूँ, वह मुझ से विरक्त रहकर अन्य पुरुष की इच्छा करती है, वह अन्य पुरुष भी किसी दूसरी स्त्री पर आसक्त रहता है और हमारे लिए कोई अन्य ही स्त्री प्राण दे रही है, इसीलिए अन्य पुरुष से प्रीति रखने वाली अपनी स्त्री को धिक्कार है, उस पुरुष को धिक्कार है जिसे वह चाहती है, इस अन्य स्त्री को भी धिक्कार है, जो मुझको चाहती है, मुझको भी धिक्कार है, और उस कामदेव को भी धिक्कार है ॥२॥

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति ॥३॥

नासमझ सहज में प्रसन्न किया जा सकता है। समझदार उससे भी सहज में प्रसन्न किया जा सकता है। परन्तु जो न तो समझदार है न नासमझ—ऐसे श्रेणी के मनुष्य को ब्रह्मा भी सन्तुष्ट नहीं कर सकते ॥३॥

प्रसह्य मणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात्
समुद्रमपि सन्तरेत्प्रचलदूर्मिमालाकुलम् ।
भुजङ्गमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद् धारयेत्
न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥४॥

भले ही मनुष्य बल द्वारा मगर की दाढ़ों में स्थित मणि को निकाल ले, भले ही ऊँची-ऊँची लहरों वाले समुद्र को भी तैरकर पार कर ले, भले ही क्रुद्ध सर्प को भी सिर पर पुष्प की तरह धारण कर ले, पर मूर्ख का मन जो किसी वस्तु पर जम गया है, उससे उसको हटाना कभी सम्भव नहीं ॥४॥

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्
पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः ।
कदाचिदपि पर्यटञ्छशविषाणमासादयेत्
न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥५॥

सम्भव है कि यदि यत्न किया जाय तो बालू को भी पेरकर तेल निकाला जा सके, सम्भव है कि कदाचित् प्यासा भी मृग तष्णासे अपनी प्यास बुझा सके, सम्भव है कि कदाचित् खरगोश का भी सींग ढूँढ़ने पर पाया जा सके परन्तु मूर्ख का चित्त जिस वस्तु पर डट गया है, उससे उसका हटाना कदापि सम्भव नहीं ।५।

व्यालं बालमृणालतन्तुभिरसौ रोद्धुं समुज्जृम्भते
छेत्तुं बज्रमणीञ्छिरीषकुसुमप्रान्तेन सन्नह्यते ।

माधुर्यं मधुबिन्दुना रचयितुं क्षाराम्बुधेरीहते
नेतुं वाञ्छति यः खलान्पथि सतां सूक्तैः सुधास्यन्दिभिः ॥६॥

जो दुष्टों को अपने अमृतमय सदुपदेशों द्वारा सन्मार्ग में ले जाने की इच्छा करता है वह पुरुष कमी के कोमल डण्ठलों के तन्तुओं से हाथी को बांधना चाहता है, हरे को शिरीश (सरसों) के फूल की पाँखड़ी से बेधना चाहता है और मधु के बूँद से खारे समुद्र के जल को मीठा किया चाहता है ॥६॥

स्वायत्तमेकांतगुणं विधात्रा विनिर्मितंछादनमज्ञतायाः
विशेषतः सर्वविद्वांसमाजे विभूषणं मौनमपण्डितानाम् ॥७॥

विधाता ने जो मौन (चुप रहना) बनाया है इसमें अनेक गुण भरे हुए हैं, इसको किसी से मांगना नहीं पड़ता यह मनुष्य के स्वाधीन रहने वाली वस्तु है मनुष्य चाहे तो इसे अपना सकता है। यह मूर्खता ढँकना (परदा डालने वाला) है, विशेषकर विद्वानों की सभा में मूर्खों के लिए भूषण ही है ॥७॥

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मन्दान्धः समभवम्
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्य भवदवलिप्तं मम मनः ।
यदा किञ्चित्किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतम्
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥८॥

जब मैं कुछ-कुछ ज्ञान रखने लगा तब मैं हाथी की तरह मदोन्मत्त हो गया और मेरे चित्त में यह गर्व हुआ कि, मैं सर्वज्ञ हूँ। परन्तु जब मैं विद्वानों की संगति से यथार्थ में कुछ-कुछ प्राप्त कर सका तब मेरा वह मद ज्वर के समान उतर गया और मुझ को यह समझ पड़ा कि, मैं मूर्ख हूँ ॥८॥

कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितं
निरुपमरसं प्रीत्या खादन्नरास्थि निरामिषम् ।
सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य न शङ्कते
न हि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम् ॥९॥

जब कीड़ों से भरे हुए, लार से भीगे, दुर्गन्धि, घृणा के योग्य, नीरस तथा मांस रहित मनुष्य की हड्डी को कुत्ता प्रेम से चबाता है. और अपने बगल में खड़े इन्द्र की भी परवाह नहीं करता है तो इससे मालूम होता है कि नीच पुरुष जिस पदार्थ को अपना लेता है. फिर वह उसकी असारता पर ध्यान नहीं देता ॥९॥

शिरः शार्वं स्वर्गात्पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरं
महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम् ।
अधोऽधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ॥१०॥

भगवती भागीरथी सर्व प्रथम स्वर्ग से शिवजी के मस्तक पर, फिर वहां से हिमालय पर्वत पर, हिमालय से पृथ्वी पर, पृथ्वी पर से समुद्र में, इस प्रकार नीचे-नीचे ही गिरती गई । इससे यह तात्पर्य निकला कि विवेक से भ्रष्ट पुरुष भी इसी प्रकार सौ-सौ तरह से अधोगति को प्राप्त होते हैं ॥१०॥

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो ।
नागेन्द्रो निशितांकुशेन समदा दण्डेन गोगर्दभौ
व्याधिर्भेषजसङ्ग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषं
सर्वस्यौषधमस्तिशास्त्र विहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥११॥

अग्नि का जल से, धूप का छाते से, उन्मत हाथी का नुकीले अंकुश से, बैल तथा गदहे का डण्डे से, व्याधिका अनेक प्रकार की औषधियों से और विविध प्रकार के मन्त्र और तन्त्रों के प्रयोगों से विष का निवारण हो सकता है। इस प्रकार सवकी औषधि शास्त्र में कही है, परन्तु मूर्खता की कोई औषधि नहीं है ॥११॥

साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाण हीनः।
तृणन्नखादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम् ॥१२॥

जो मनुष्य साहित्य और संगीत की कला को नहीं जानते वे बिना सींग और पूँछ के साक्षात् पशु हैं। इस तरह के पशु जो घास न खाकर जलते रहते हैं, यह पशुओं का परम सौभाग्य है ॥१२॥

येषा न विद्या न तपोन दानं ज्ञानं न शीलन गुणोनधर्माः।
ते मर्त्यलोकेभुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ।।१३॥

जिन पुरुषों में विद्या, तप, दान, ज्ञान, सौजन्य गुण और इनमें से कुछ भी नहीं है वे मृत्युलोक में पृथ्वी के भार स्वरूप होकर मनुष्य रूप में साक्षात् मृग की तरह विचरते हैं ॥१३॥

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह।
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि ॥१४॥

वीहड़ पहाड़ों पर जंगली आदमियों के साथ विचरना अच्छा है, परन्तु मूर्ख पुरुषों के साथ इन्द्र भवन में भी रहना अच्छा नहीं ॥१४॥

अथ विद्वत्प्रशंसा

शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः शिष्यप्रदेयागमा
विख्याता-कवयो वसन्ति विषये यस्य प्रभोर्निर्धनाः।
तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य सुधियस्त्वर्थं विनापीश्वराः
कुत्स्याः स्युः कुपरीक्षका हि मणयो यैरर्घतः पतिता ॥१५॥

शास्त्रों से अलंकृत शब्दों से सुन्दर वाणी वाले और शिष्यों को उपदेश देने योग्य शास्त्र वाले सुप्रसिद्ध कवि जिस राजा के राज्य में निर्धन होकर वास करते हों यह उसी राजा की अयोग्यता है, विद्वान् कवि तो धन के बिना भी सर्वत्र ही पूजे जाते हैं और सर्व समर्थ हुआ करते हैं। रत्नों का मूल्य गिराने वाला रत्नपारखी ही निन्दा का पात्र समझा जाता है, रत्न नहीं ॥१५॥

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति यत्सर्वदा
ह्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिपराम्।
कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधन विद्याख्यमन्तर्धनम्
येषां तान्प्रति मानुमुज्झत नृपाः कस्तैः सहस्पर्धते ॥१६॥

जिनके पास विद्यारूपी गुप्त धन है, जिसको चोर देख नहीं सकता और निरन्तर कल्याण की वृद्धि करता रहता है, याचकों (शिष्यों) को सर्वदा देते रहने पर भी बढ़ता ही रहता है, जिसका महाप्रलय में भी कभी नाश नहीं होता, हे राजा लोगो ! इस प्रकार के उन महाकवियों के प्रति अभिमान करना छोड़ दो, उनके साथ कौन स्पर्धा कर सकता है ॥१६॥

अधिगतपरमार्थान्पण्डितान्मावमंस्थास्तृणमिव
लघुलक्ष्मीर्नैव तान्संरुणद्धि।
अभिनवमदलेखाश्यामगण्डस्थलानां
न भवति बिसतन्तुर्वारणं वारणानाम् ॥१७॥

हे राजन् ! तत्वज्ञानी पण्डितों का अपमान मत करो। तृण के समान तुच्छ लक्ष्मी उनको वश में नहीं कर सकती। कमल-नाल का तन्तु, ताजे मद की लकीर से मद बहते गण्डस्थल वाले हाथियों को रोक नहीं सकता ॥१७॥

अम्भोजिनीवनविहारविलासमेव
हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता।
न त्वस्य दुग्ध-जलभेदविधौ प्रसिद्धां
वैदग्ध्यकीर्तिमपहर्तुमसौ समर्थः ॥१८॥

क्रुद्ध हुआ विधाता, हंस का कमलिनी के बन में विहार करके रूप विलास को भले ही रोक दे, परन्तु दूध और जल को पृथक् करने वाले इसके चातुर्यपूर्ण चमत्कार का कौन अपहरण कर सकता है ॥१८॥

केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्द्धजाः।
वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥१९॥

पुरुष को, न तो विजायठ, न चन्द्रमा के समान उज्ज्वल मोतियों की माला, न स्नान, न चन्दनादिक विलेपन, न सुगन्धित फूल और न भूषित केश अलंकृत करता है, किन्तु व्याकरणादि से शुद्ध वाणी ही एक ऐसी वस्तु है, जो उसे अलंकृत किये रहती है। और अलंकार तो समय पाकर नष्ट भी हो जाते हैं परन्तु वाणीरूपी भूषण का कभी नाश नहीं होता ॥१९॥

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः ॥२०॥

विद्या ही मनुष्य का सौन्दर्य और गुप्त धन है। विद्या ही भोग, यश और सुख को देने वाली है। विद्या ही गुरुओं का भी गुरु है। परदेस में विद्या ही बन्धु है। विद्या परा देवता है। विद्या ही राजाओं में पूजी जाती है धन नहीं, अतः विद्याहीन नर निरा पशु है ॥२०॥

क्षान्तिश्चत्कवचेन किं किमरिभिः क्रोधोऽस्ति चेद्देहिनां
ज्ञातिश्चदनलेन किं यदि सुहृद्दिव्यौषधैः किं फलम्।
किं सर्पैर्यदि दुर्जना किमु धनैर्विद्याऽनवद्या यदि
व्रीडा चेत्किमु भूषणैः सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम्॥

यदि क्षमा हो तो कवच की क्या जरूरत है? यदि क्रोध है तो शत्रु का क्या प्रयोजन है? यदि जाति है तो अग्नि से क्या मतलब? यदि सन्मित्र हैं तो उत्तम औषधियों से क्या काम? यदि सहवासी दुर्जन हों तो सांपों की क्या आवश्यकता? यदि निर्दोष विद्या हो तो धन की क्या आवश्यकता? ॥२१॥

दाक्षिण्य स्वजने दया परिजनने शाठ्यं सदा दुर्जने
प्रीतिः साधुजने दयो नृपजने विद्वज्जने चार्जवम्।
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने धृष्टता
ये चैवं पुरुषाःकलासु कुशलास्तेष्वेव लोके स्थितिः ॥२२॥

पुत्र कलत्र आदि अपने कुटुम्बियों पर उदारता, अपने आश्रित पर दया, दुर्जनों के साथ दुष्टता, साधुओं में नीतिपूर्ण व्यवहार विद्वानों के साथ सरलता, शत्रुओं के साथ शूरता, गुरुजनों के साथ सहनशीलता, स्त्रियों के साथ धूर्तता, आदि उक्त लौकिक कलाओं में जो लोग निपुण हैं, उन्हीं पर सारे संसार का दारमदार है॥२२॥

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
सत्सङ्गतिः कथय किन्न करोति पुंसाम् ॥२३॥

बुद्धि मन्दता को हरती है, वाणी में सत्यता लाती है. प्रतिष्ठा और अभ्युदय को कराती है, नीच कर्म से पृथक करती है, चित्त को प्रसन्न करती है, और दसों दिशाओं में कीर्ति फैलाती है, कहो तो सही सज्जनों की संगति मनुष्य का क्या नहीं करती ?॥२३॥

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति तेषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥२४॥

नवों रसों में सिद्ध और पुण्यवान् वे महाकवि सर्वश्रेष्ठ हैं, जिनके यशरूपी शरीर में न बुढ़ापे का भय है, न मृत्यु का ॥२४॥

सूनुः सच्चरितः सती प्रियतमा स्वामी प्रसादोन्मुखः
स्निग्धं मित्रमवञ्चकः परिजनो निःक्लेशलेशं मनः ।
आकारो रुचिरः स्थिरश्च विभवो विद्यावदातं मुखं
तुष्टे विष्टपहारिणीष्टदहरौ सम्प्राप्यते देहिनाम् । २५॥

संसार के कष्टों को हरण करने वाले भगवान् के प्रसन्न होने पर ही सच्चरित पुत्र, पतिव्रता स्त्री, सदा प्रसन्न रहने वाला स्वामी, सुहृदय मित्र, विश्वासपात्र सेवक, सतत निश्चिंत चित्त, सुन्दर स्वरूप, स्थायी सम्पत्ति और विद्या से चमकता चेहरा आदि प्राप्त होता है ॥२५॥

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम् ।
तृष्णास्रोतोविभङ्गो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा
सामान्यं सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेषपन्थाः ॥२६॥

जो जीव हिंसा से पृथक् रहना, दूसरों के धन को हरण करने से अपने को बचाना, सत्य बोलना, अवसर आने पर यथाशक्ति दान देना, पर-स्त्री कथा में मौन रहना, तृष्णा की बढती गति को रोकना, गुरुजनों में नम्र रहना, प्राणी मात्र में दया रखना, आदि को ही सभी शास्त्रों ने कल्याण का एक मात्र निर्विरोध मार्ग बताया है ॥२६॥

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः पुनःपुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ।।२७॥

अधम श्रेणी के लोग विघ्न के भय से कोई कार्य प्रारम्भ नहीं करते, मध्यम श्रेणी के लोग कार्य प्रारम्भ कर देते हैं, परन्तु विघ्न उपस्थित हो जाने पर उसे छोड़ देते हैं, उत्तम श्रेणी के लोग कार्य प्रारम्भ करने के बाद विघ्नों से बराबर सताये जाने पर भी वे कार्य को बीच ही में छोड़ते नहीं, उसे पूरा करके ही छोड़ते हैं ॥२७॥

प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभगेऽप्यसुकरं
त्वसन्तो नाभ्यर्थ्या. सुहृदपि न याच्यःकृशधनः ।
विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाव्रतभिदम् ॥२८॥

सज्जनों के लिए इसी असिधारा व्रत (तलवार की धार पर चलने की तरह अत्यन्त खतरनाक) का उपदेश किसने किया, जिसमें सज्जनों और स्वल्प धनी मित्रों से कभी याचना नहीं की जाती, न्याय संगत वृत्ति का ही आश्रय लेना पड़ता है, विपत्ति

के समय भी उच्च विचारों की ही रक्षा की जाती है और बड़े लोगों के ही मार्ग का अनुसरण करना पड़ता है ॥२८॥

अथ मानशौर्यप्रशंसा

क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोऽपि शिथिलप्रायोऽपिकष्टांदशा
म।पन्नोऽपि विपन्नदीधितिराप प्राणेषु नश्यत्स्वपि ।
मत्तभन्द्रविभिन्नकुम्भपिशितग्रासैक बद्धस्पृह
फिंजीर्णं तृणमत्ति मानमहताग्रेसरः केसरी ॥२९॥

भूख के कारण अत्यन्त कृश भी, बुढ़ापे से दुर्बल भी, अङ्गों से शिथिल भी, कष्टमय दशा को प्राप्त होने पर भी, निस्तेज होने पर भी, मदमत्त गजराज के चरे हुए मस्तक का मांस खाने की इच्छा रखने वाला सिंह कभी सूखी घास खा नहीं सकता है ॥२९॥

स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिन निर्मां संमप्यस्थिकं
श्वालब्ध्वा परितोषमेति न च तत्तस्य क्षुधाशान्तये ।
सिंहो जम्बुकमङ्कमागतपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपं
सर्वः कृच्छ्रगतोपि वाञ्छतिजनः सत्वानुरूपं फलम् ॥३०॥

कुत्ता कुछ-कुछ रस, चर्बी आदि लगे हुए मांस रहित को भी हड्डी को प्राप्त कर सन्तुष्ट होता है, परन्तु उससे उसकी क्षुधा शान्त नहीं होती । सिंह समीप आये गीदड़ को भी छोड़कर हाथी को ही मारता है । तात्पर्य यह निकला कि—सभी प्राणी कष्टा-वस्था में रहने पर भी अपनी शक्ति के अनुसार ही फल की इच्छा करते हैं ॥३०॥

लांगूलचालनमधश्चरणावप तं
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनञ्च ।
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुंगवस्तु
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भङ्क्ते ।।३१।।

कुत्ता खाना खिलाने वाले के आगे पूँछ हिला पैरों पर गिर भूमि में लोट-पोट कर मुँह और पेट को दिखा चाप्लूसी करता है, परन्तु हाथी, रोटी खिलाने वाले की ओर एक वार गंभीरता से देखता है और वड़ी मान-मनौती करने के बाद भोजन करता है ।।३१।।

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।।३२।।

इस परिवर्तनशील संसार में कौन नहीं मरता और कौन नहीं जन्मता, परन्तु उसका जन्म लेना सफल है, जिससे कि वंश की उन्नति हो ।।३२।।

कुसुमस्तवकस्येव द्वयी वृत्तिर्मनस्विनः ।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य विशीर्येत वनेऽथवा ।।३३।।

फूलों के गुच्छे की तरह अच्छे पुरुषों की दो ही गति हुआ करती हैं, या तो वह सब लोगों के मस्तक पर ही रहता है या वह जंगल में मुरझाकर समाप्त हो जाता है ।।३३।।

सन्त्यन्येऽपि वृहस्पतिप्रभृतयः सम्भाविता :
पञ्चषास्तान्प्रत्येष विशेषविक्रमरुची राहुर्न वैरायते ।
द्वावेव ग्रसते दिनेश्वरनिशाप्राणेश्वरा भास्वरौ
भ्रातः पर्वणि पश्य दानवपतिः शीर्षावशेषाकृतिः ।।३४।।

आकाश में बृहस्पति प्रभृति तेजस्वी पांच छः ग्रह और भी हैं पर पराक्रम में अभिरुचि रखने वाला राहु उनसे बैर नहीं करता, वह पूर्णिमा और अमावस्या के समय केवल देदीप्यमान सूर्य और चन्द्रमा को ही ग्रसा करता है ॥३४॥

वहति भुवनश्रेणिं शेषः फणाफलकस्थितां
कमठपतिना मध्येपृष्ठं सदा स विधार्यते ।
तमपि कुरुते क्रोडाधीनं पयोधिरनादरादहह
महतां निःसीमानश्चरित्रविभूतयः ॥३५॥

जिस शेषनाग ने अपने फन पर चौदहों भुवनों को धारण किया है, उस शेष को भी कच्छप ने अपने ऊपर धारण किया है। परन्तु समुद्र ने उस कच्छप को भी अपनी गोद में यों ही रख लिया है। अहो ! बड़े लोगों के चरित्र की महिमा अपरिमित हुआ करती है ॥३५॥

वरं प्राणोच्छेदः समदमघवन्मुक्तकुलिश—
प्रहारैरुद्गच्छद्बहुलदहनाद्गारगुरुभिः ।
तुषाराद्रेः सूनोरहह पितरि क्लेशविवशे
न चासौ सम्पातः पयसि पयसां पत्युरुचितः ॥३६॥

ऊपर उठती हुई अत्यधिक अग्नि की ज्वाला से असह्य तथा मदमत्त इन्द्र द्वारा छोड़े हुए वज्र के प्रहार से हिमालय के पुत्र मैनाक के पंखों का कट जाना अच्छा था, किन्तु दुःख है कि पिता की विपत्ति के समय में उन्हें छोड़कर समुद्र में जा अपनी रक्षा करना अच्छा नहीं है ॥३६॥

यदचेतनोऽपिपादैः स्पृष्टः प्रज्वलति सवितुरिनकान्तः ।
तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतनिकृतिं कथं सहते ॥३७॥

जब अचेतन सूर्यकान्तमणि भी सूर्य किरणों से स्पष्ट होने पर जल उठता है तब सचेतन तेजस्वी पुरुष दूसरे के द्वारा किये गये अपमान को कैसे सह सकता है ॥३७॥

सिंहः शिशुरपिनिपततिमदमलिन कपोलभित्तिषुगजेषु ।
प्रकृतिरियं सत्ववतां न खलु वयस्तेजसां हेतुः ॥३८॥

सिंह का बच्चा भी हो तो भी मत्त गज पर आक्रमण करता है, ठीक ही है, यह शक्तिशालियों का स्वभाव ही है, तेजस्वी होने में अवस्था कारण नहीं होती ॥३८॥

अथ द्रव्य प्रशंसा

जातिर्यातु रसातलं गुण गणस्तत्राप्यधो गच्छतात्
शीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः संदह्यतां वह्निना ।
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु न केवलं
येनैकेन बिनागुणास्तृणलवप्रायः समस्ताइमे ॥३९॥

जाति भले ही रसातल को चली जाय, गुणवान भले उससे भी नीचे जाँय, सदाचार पर्वत से गिरकर भले ही चकनाचूर हो जाय, परिवार के लोग अग्नि से भले ही भस्म हो जायें, शत्रुरूपा शूरता पर भले ही वज्र गिर जाय, इस तरह भले ही सर्वनाश हो जाय पर हमें तो केवल एक धन से ही सम्बन्ध है वह हमारा सुरक्षित रह जाय, जिसके बिना सभी गुण तृणवत् हैं ॥३९॥

तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव ।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव
त्वन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥४०॥

वे ही सब इन्द्रियां हैं, वही नाम है, अकुण्ठित वही बुद्धि है, पहले जैसी वही वाणी है, सब कुछ वही है, परन्तु पुरुष जब धन की गर्मी से रहित हो जाता है तब वह क्षण मात्र में और का और ही हो जाता है ॥४०॥

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान्गुणज्ञः ।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते ॥४१॥

जिसके पास धन है वही कुलीन है, वही पण्डित है, वही विद्वान् और गुणी है, वही वक्ता और दर्शनीय है। तात्पर्य यह है कि सभी गुण सोने (धन) में रहा करते हैं ॥४१॥

दौर्मन्त्र्यान्नृपतिविनश्यति यतिः सङ्गात्सुतो लालनाद्
विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात् ।
ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रयान्मैत्रा
चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्यागत्प्रमादाद्धनम् ॥४२॥

दुर्मन्त्री के सम्बन्ध से राजा, विषयासक्ति से योगी, दुलार से से पुत्र, न पढ़ने से ब्राह्मण, कुपुत्र से कुल, दुष्टों के सहवास से सदाचार, मद्यपान से लज्जा, रखवारी न करने से खेती, सतत बाहर रहने से मित्रता, अनीति से ऐश्वर्य और दान तथा प्रमादीपन से धन नष्ट हो जाता है ॥४२॥

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥४३॥

धन की तीन ही गति हुआ करती हैं, दान, भोग और नाश। जो व्यक्ति न दान करता है न भोगता है, उसके धन की तीसरी गति हुआ करती है ॥४३॥

मणिः शाणोल्लीढः समर विजयी हेतिनिहतो
मदक्षीणो नागः शरदि सरितः श्यानपुलिनाः ।
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालवनिता
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषुजनाः ।।४४।।

सान पर खरादा हुआ मणि, शस्त्रों से घायल समर विजेता, मद बहता हाथी, शरद् ऋतु की कुछ-कुछ सूखे पुलिनवाली नदियां, कलाशेष चन्द्रमा, रतिक्रीड़ा में मर्दन की गई नवयौवन स्त्री और सत्कार्य में धन व्यय कर निर्धनी हुए मनुष्य ये सब कृशता से अच्छे लगते हैं ।।४४।।

परिक्षीणः कश्चित्स्पृहयति यावनां प्रसृतये
स पश्चात्सम्पूर्णो गणयति धरित्रीं तृणसमाम् ।
अतश्चानैकान्त्याद् गुरुलघुतयार्थेषु धनिनामवस्था
वस्तू निप्रथयतिचसङ्कोचयतिच ।।४५।।

कोई गरीब एक अंजुली भर जौ की इच्छा करता है, वही जब धन कनक से परिपूर्ण हो जाता है तो उस समय पृथ्वी को तृणवत् समझता है। इसलिए आदि पदार्थों की महत्ता अनिश्चित होने के कारण धनिकों की अवस्था ही उनकी छोटाई और बड़ाई बनाती है ।।४५।।

राजन्दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेतां
तेनाद्य वत्समिव लोकममुम्पुषाण ।
तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपुष्यमाणे
नानाफलं फलति कल्पलतेव भूमि. ।।४६।।

हे राजन् ! यदि आप इस पृथ्वी रूप गाय को दुहना चाहते हो तो अपनी प्रजा का उसके बछड़े की तरह पालन करो।

नासमझ व्यक्ति को समझाया जा सकता है, समझदार को सहज में प्रसन्न किया जा सकता है, परन्तु मूर्ख मनुष्य को कैसे समझाया जाय ? (नी० श० ३)

जैसे कुत्ता नीरस और गंदी हड्डी को प्रेम से चबाता है और अपने पास खड़े इन्द्र की परवाह नहीं करता इसी प्रकार नीच पुरुष भी जिसे अपना लेता है तो फिर उसकी असारता पर ध्यान नहीं देता। (नी० श० ९)

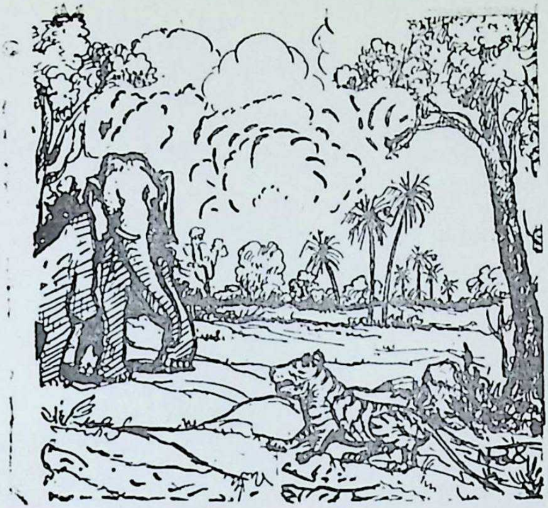

शेर का बच्चा भी हाथी पर ही आक्रमण करता है अर्थात् शक्तिशाली होने में अवस्था का सम्बन्ध नहीं है। (नी० श० ३८)

कभी सच, कभी झूठ, कभी कठोर, कभी मधुर वचन बोलने वाली, कभी घातक, कभी दयायुक्त स्वभाव वाली, खूब कमाने और खूब खर्च करने वाली राजनीति वेश्या के समान हुआ करती है। (नी० श० ४७)

अच्छी तरह निरन्तर उसका पालन करने पर ही कल्पवृक्ष की तरह यह अनेक फल दिया करती हैं ।।४६।।

सत्याऽनृता च परुषा प्रियवादिनी च
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या ।
नितव्या प्रचुरनित्यधनागमा च
वाराङ्गनेव नपनीतिरनेकरूपा ।।४७।।

कभी सत्य, कभी मिथ्या, कभी कठोर. कभी मधुर वचन बोलने वाली, कभी घातक, कभी दयायुक्त, कभी स्वार्थरत, कभी परोपकार रत, नित्य खर्च करने वाली और नित्य ही खूव धन पैदा करने वाली राजनीति वेश्या की तरह हुआ करती है ।।४७।।

आज्ञा कीर्तिः पालनं ब्राह्मणानां
दानं भोगो मित्रसंरक्षणञ्च ।
येषामेते षड्गुणा न प्रवृत्ताः
कोऽर्थस्तेषां पार्थिवोपाश्रयेण ।।४८।।

हे राजन् ! जिनमें शासन की प्रभुता, यश प्राप्ति की इच्छा, ब्राह्मणों का पालन, दान देने की शक्ति, उपभोग, मित्र रक्षा आदि छः गुण नहीं हैं, ऐसे राजाओं की सेवा से क्या लाभ है ? ।।४८।।

तद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं स्तोकं महद्वा धनं
तत्प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरौ ततो नाधिकम् ।
तद्धीरो भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्ति वृथा मा कृथा
कूपेपश्य पयोनिधीवविघटो गृह्णातितुल्यजलम् ।।४९।।

विधाता ने भाग्य में थोड़ा यां वहुत जितना धन लिखा है उतना तो मरुभूमि में भी उसे मिलता ही है । सुवर्णमय मेरुपर्वत

पर जाने पर भी उससे अधिक उनको नहीं मिल सकता, इसलिए अपने भाग्य पर ही सन्तोष करो। धनिकों के आगे दीन मत बनो। देखो, कूए में अथवा समुद्र में घड़ा डालने पर भी वह अपने में अटने भर ही पानी लेता है ॥४९॥

त्वमेव चातकाधारोऽसीति केषाँ न गोचरः।
किमम्भोदवरास्माकं कार्पण्योक्ति प्रतीक्षसे ॥५०॥

हे श्रेष्ठ मेघ! आप हम पपीहों के आधार हो यह किसे मालूम नहीं है। फिर क्यों आप हमारे दीन वचनों की प्रतीक्षा करते हो ॥५०॥

रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयताम्म्भोदाः
बहवो हि सन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः।
केचिद् वृष्टि भिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद् वृथा
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं ॥५१॥

हे पपीहे! सावधान होकर थोड़ी देर मेरी बात सुनो। आकाश में मेघ अनेक रहा करते हैं, परन्तु सभी उदार नहीं हुआ करते। उनमें से कोई ही वर्षा से पृथ्वी को हरा भरा करते हैं। इसलिए, जिसको-जिसको देखा करो उसके-उसके आगे दीन वचन न बोला करो ॥५१॥

अकरुणत्वमकारणविग्रहः परधने परयोषिति च स्पृहा।
सुजनबन्धुजनेष्वसहिष्णुता
प्रकृतिसिद्धमिदं हि दुरात्मनाम् ॥५२॥

निर्दयता, बिना कारण लड़ना, दूसरे के धन अथवा स्त्री के पाने की इच्छा करना, सज्जनों एवं अपने बन्धुबान्धवों के साथ

ईर्ष्या करना आदि लक्षण दुरात्माओं के स्वभाव सिद्ध हुआ करते हैं ।।५२।।

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि सन् ।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकर ।।५३।।

दुर्जन विद्वान् हो तो भी उसको त्याग देना चाहिए। क्या मणि से भूषित भी सर्प भयंकर नहीं होता ? ।।५३।।

जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः शुचौ कैतवं
शूरे निर्घृणता मुनौ विमतितता दैन्यं प्रियालापिनी।
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तर्यशक्तिः स्थिरे
तत्को नाम गुणो भवेत्स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाङ्कितः ।।५४।।

दुर्जन, लज्जाशील पुरुषों में जड़ता, व्रत करने वालों में पाखण्डता, पवित्र चरित्र वालों में कपटीपना, वीरों में निर्दयीपना, मुनियों में बुद्धिहीनता, मधुर भाषियों में दीनता, प्रभावशाली पुरुषों में घमण्डीपना, वक्ता (लेक्चरार) पुरुषों में बकवादीपना, गम्भीर पुरुषों में असमर्थता आदि दोषों का होना कहा करते हैं। इस परिस्थिति में गुणियों का, कौन ऐसा गुण है जिसमें दुर्जनों ने दोष न निकाला हो ।।५४।।

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम् ।
सौजन्यं यदि किं गुणैः सुमहिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः
सद्विद्यायदिकिं धनैरपयशो यद्यस्तिकिं मृत्युना ।।५५।।

यदि लोभ हो तो और किसी भी दुर्गुण की क्या आवश्यकता ? यदि चुगुलपन है तो और पापों का क्या प्रयोजन ? यदि सत्यता है तो तपस्या से क्या मतलव ? यदि मन पवित्र है तो

तीर्थों में यात्रा करने से क्या लाभ ? यदि सुजनता है तो और गुणों की क्या जरूरत ? यदि यश हो तो अहंकारों की क्या आवश्यकता ? यदि उत्तम विद्या है तो धन की क्या परवाह ? यदि अपयश है तो मृत्यु की क्यों खोज करना ।।५५।।

शशि दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः ।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ।।५६।।

दिन का धूमिल चन्द्रमा, जवानी ढली स्त्री, कमल रहित सरोवर, सुन्दर पुरुष का मूर्ख होना, राजा का लोभी होना, सज्जन का सदा दुर्दशाग्रस्त होना और राजा के दरवार में दुष्ट पुरुष का पहुँचना आदि सात वातें मेरे मन में काँटे की तरह चुभ रही हैं ।।५६।।

न कश्चिच्चण्डकोपानामात्मीयो नाम भूभुजाम् ।
होतारमपि जु ानं स्पृष्टो दहति पावकः ।।५७।।

अति क्रोधी राजाओं का कोई भी अपना नहीं होता । जैसे छू जाने से अग्नि हवन करने वालों को भी जलाती ही है ।।५७।।

मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा
धृष्टः पार्श्वे पसति च सदा दूरतश्चाप्रगल्भः ।
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ।।५८।।

सेवक यदि मौन रहता है तो उसे गूँगा, बात करने में चतुर होता है तो वात रोगी (पागल) अथवा वकवादी, समीप रहने पर

ढीठ, यदि दूर रहे तो नासमझ (कच्ची बुद्धि वाला), क्षमाशील हो तो उसे डरपोक, सहनशील न रहने पर दुष्कुलीन कहा जाता हैं। तात्पर्य यह कि सेवा का धर्म अत्यन्त कठिन है, योगी पुरुष भी उसे ठीक समझ नहीं पाते ॥५८॥

उद्भासिताखिलखिलस्य विशृङ्खलस्य
प्रोग्जातविस्मृतनिजाधर्मकर्मवृत्तेः ।
दैवादवाप्तविभवस्य गुणद्विषोऽस्य
नीचस्य गोचरगतैः सुखमास्यते कैः ॥५९॥

नीच कर्मों द्वारा अपने वर्ग के समस्त दुष्टों को प्रकाश में लाने वाले, इच्छानुसार आचरण करने वाले, पहले किए हुए बड़े-बड़े अपने नीच कर्मों में ही प्रवृत्ति रखने वाले, यकायक सम्पत्ति पाने वाले, गुणों से द्वेष रखने वाले, इस तरह के दुष्ट पुरुष के सामने आ जाने पर किन्होंने सुख पाया है ॥५९॥

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण
लघ्वीपुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्द्धभिन्ना छायेव
मैत्री खलसज्जनानाम् ॥६०॥

दिनके पूर्वार्द्ध में जैसे छाया बृहदाकार रहा करती है और बाद में स्वल्पाकार हो जाती है और उत्तरार्द्ध में जैसे पहले स्वल्पाकार रहती है और अनन्तर बृहदाकार हो जाती है, उसी तरह दुष्टों और सज्जनों की मित्रता हुआ करती है ॥६०॥

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम्
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणमेव वैरिणो जगति ॥६१॥

संसार में बहेलिया, मल्लाह और दुष्ट-घास, जल और सन्तोष से जीवन निर्वाह करने वाले मृग, मछली और सज्जन के अकारण ही शत्रु हुआ करते हैं ॥६१॥

वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषि त रतिर्लोकापवादाद्भूयम् ।
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले
एते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नमः ॥६२॥

सज्जनों की मैत्री की इच्छा, पराये गुणों में प्रीति, गुरु में नम्रता, विद्या में अनुराग, स्त्री में प्रेम, लोकापवाद से डर, शंकर जी में भक्ति, इन्द्रियों को अपने वश में रखने की शक्ति, दुष्टों की असंगति आदि गुण जिन मनुष्यों में रहते हों उनको नमस्कार है ॥६२॥

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रसिद्ध मिदं हि महात्मनाम् ॥६३॥

विपत्ति में धीरज, उन्नति में सन्तोष, सभा में चतुरता, युद्ध में वीरता, यश प्राप्ति में विशेष रुचि, वेदाध्ययन में आसक्ति आदि गुण महात्माओं में स्वभाव से ही रहा करते हैं ॥६३॥

प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते सम्भ्रमविधिः
प्रियं कृत्वा मौनं सदसि चाप्युपकृतेः ।
अनुत्सेको लक्ष्म्यां निरभिभवसाराः परकथाः
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥६४॥

गुप्तदान, घर आये हुए का आदर करना, उपकार करके चुप

रहना, दूसरों द्वारा किये गये उपकार को सभा में कहना, सम्पत्ति रहते हुए गर्व न करना, दूसरों के कथा प्रसंग में उनके परभाव अथवा निन्दा का भाव न दिखाना आदि कठोर तलवार की धार पर चलना रूप असिधारा व्रत सज्जनों को किसने कहा है ।।६४।।

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणयिता
मुखे सत्या वाणी विजयि भुजयोर्वीर्यमतुलम् ।
हृदि स्वच्छा वृत्तिः श्रुतमधिगतं च श्रवणयो-
र्विनाऽप्यैश्वर्यं प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम् ।।६५।।

हाथों में प्रशंसनीय दान, सिर पर गुरुओं के चरणों में प्रणाम करने में प्रेम, मुख में सत्यता, भुजाओं में अतुल बल, मन में पवित्रता, कानों में शास्त्रों का श्रवण आदि गुण बिना सम्पत्ति के भी महात्माओं में स्वाभाविक हुआ करते हैं, उनको लौकिक भूषणों की कोई आवश्यकता नहीं रहा करती ।।६५।।

सम्पत्सु महतां चित्तं भवेदुत्पलकोमलम् ।
आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम् ।।६६।

महात्माओं का मन, सम्पत्ति प्राप्त होने पर कमल की तरह कोमल अर्थात् अत्यन्त दयार्द्र हुआ करता है और विपत्ति के समय बड़े पर्वत की चट्टानों की तरह अत्यन्त कठिन अर्थात् सहन करने की शक्ति वाला हुआ करता है ।।६६।।

सन्तप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते ।
स्वात्यां सागरशुक्तिमध्यपतितं तन्मौक्तिकं जायते
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संसर्गतो जायते ।।६७।।

तपते हुए लोहे पर गिरे हुए जलका नाम भी नही रह जाता, वही कमलिनी के पत्तों पर गिरता है तो मोती की तरह शोभा पाता है और यदि वह स्वाती नक्षत्र में समुद्र की सीपियों में गिरता है तो मोती वन जाता है, इसलिए मालूम पड़ता है कि अधम, मध्यम तथा उत्तम गुण संसर्ग से ही हुआ करते हैं ॥६७॥

यः प्रीणयेत्सुचरितैः पितरं स पुत्रो
यद्भर्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम्
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं यद्
एतत्त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते ॥६८॥

जो अपने अच्छे आचरणों द्वारा पिता को प्रसन्न करता है, वही पुत्र है, जो अपने पति का हित चाहा करती है वही स्त्री है, जो सुख और दुःख दोनों में एक-सा व्यवहार रखता है वही मित्र है, संसार में ये तीन बातें पुण्यात्माओं को ही प्राप्त हुआ करती हैं ॥६८॥

एको देवः केशवो वा शिवो वा
एकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा।
एको वासः पत्तने वा वने वा
एको नारी सुन्दरी वा दरी वा ॥६९॥

मनुष्य का आराध्यदेव एक ही होना चाहिए फिर चाहे वह केशव हो चाहे शिव, इसी तरह मित्र भी एक ही होना चाहिए चाहे वह राजा हो या फक्कड़ [साधु] हो, एक ही निवास स्थान भी रहे फिर चाहे वह नगर हो अथवा जंगल, स्त्री भी एक ही हो फिर चाहे वह सुन्दरी हो या गुफा हो ॥६९॥

नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणकथनैः स्वान्गुणान्ख्यापयन्तः
स्वार्थान्सम्पादयन्तो विततपृथुतरारम्भयत्नाः परार्थे ।
क्षान्त्यैवाक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखान्दुर्जनान्दूषयन्तः
सन्त साश्चर्यचर्या जगति बहुमताःकस्यनाभ्यर्चनीयाः ॥७०॥

नम्र होकर ऊपर उठने वाले, दूसरों के गुणों के कथन द्वारा ही अपनी गुणवत्ता प्रकट करने वाले, दूसरों के कार्य के लिए स्वयं सतत बहुत बड़ा परिश्रम करते हुए ही अपना कार्य सिद्ध करने वाले निन्दा से रूखे अक्षरों से भरे मुख वाले दुर्जनों को अपनी क्षमा द्वारा ही दूषित ठहराने वाले, अनेकों द्वारा सम्मानित और आश्चर्य कारक चरित्र वाले सत्पुरुष इस संसार में किसके पूज्य नहीं ? ॥७०॥

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमै-
र्नवाम्बुभिर्भूमिविलम्बिनो घनाः ।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥७१॥

वृक्ष फलों से लद जाने पर झुक जाते हैं, मेघ जल से भरे रहने पर लटक आते हैं, सत्पुरुष ऐश्वर्य प्राप्त होने पर नम्र हो जाते हैं। यह झुकना अथवा नम्र होना लोकोपकारियों का स्वभाव ही है ॥७१॥

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन ।
विभाति कायः करुणामयानां परोपकारैर्न तु चन्दनेन ॥७२॥

कान शास्त्रों के सुनने से ही शोभित होता है कुण्डल से नहीं, हाथ की शोभा दान से है कंगण से नहीं, दयाशील पुरुषों का शरीर परोपकार से शोभित होता है चन्दन से नहीं ॥७२॥

पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यं निगूहति गुणान्प्रकटीकरोति ।
आपद्गतञ्च न जहाति ददाति काले
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥७३॥

पाप कर्म से हटाता है, हित कार्य में लगाता है. गुप्त विषय को छिपाता है मित्र के गुणों को प्रकट करता है, संकट आ जाने पर मित्र को छोड़ता नहीं, समय आ पड़ने पर सहायता करता है, इन सब लक्षणों द्वारा सन्मित्र जाना जाता है ॥७३॥

पद्माकरं दिनकरो विकचं करोति
चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम् ।
नाभ्यार्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति
सन्तः स्वयं परहितेषु कृताभियोगाः ॥७४॥

सूर्य विना प्रार्थना के ही कमल को खिला देता है, चन्द्रमा कैरवों को विकसित करता है, मेघ भी विना प्रार्थना के ही जल बरसाया करता है, इससे सिद्ध होता है कि सत्पुरुष अपने-अपने से ही दूसरों के हित में लगे रहा करते हैं ॥७४॥

एते सतपुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान्परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेनये ।
तेऽमी मानुषराक्षसः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥७५॥

संसार में एक वे सज्जन हैं जो अपने स्वार्थ को छोड़कर एकमात्र दूसरों की भलाई में ही लगे रहा करते हैं, दूसरे साधारण श्रेणी के वे भी सत्पुरुष ही हैं जो अपने स्वार्थ को बचाते हुए

दूसरों की भलाई किया करते हैं ओर जो अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए दूसरों के हित का नाश किया करते हैं वे मनुष्यों में राक्षस हैं, परन्तु जो निरर्थक परहित का नाश करते हैं, वे कौन हैं मैं नहीं जानता ।।७५।।

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः
क्षीरोत्तापमवेक्ष्य तेनपयसा ह्यात्मा कृशानौ हुतः ।
गन्तुं पावकमुन्मानास्तदभवद् दृष्टवा तु मित्रापद
युक्तं तेन जले न शाम्यदि सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी ।।७३।।

दूध ने मित्र पानी के मिल जाने पर सफेदी आदि अपने सभी गुण उसको दे दिये । पानी ने भी दूध को जलता हुआ देखकर उसे बचाने के लिए अपने आपको जला दिया, इस प्रकार मित्र को आपत्ति में देखकर दूध ने भी अग्नि में प्रवेश करना चाहा पर फिर वाहर से मित्र पानी के छींटे को पाकर वह शान्त हो गया । अहो सज्जनों की मित्रता ऐसा ही हुआ करती है ।।७६।।

इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विषा-
मितश्च शरणार्थिनां शिखरिणां गणाः शेरते ।
इतोऽपि बड़वानलः सह समस्तसंवर्तकै—
रहो विततमूर्जितं सह भरसहञ्च सिन्धोवपुः ।।७७।।

एक ओर भगवान् विष्णु होते हैं तो दूसरी ओर उनके शत्रुओं का दल विराजमान है एक तरफ अपनी रक्षा चाहने वाले पर्वतों का समूह सो रहा है तो उसकी दूसरी ओर प्रलय-कालिक समस्त अग्नियों के साथ बड़वानल रह रहा है । अहो आश्चर्य है ? समुद्र का शरीर कितना बलवान और भार सहने वाला है ।।७७।।

तृष्णां छिन्धि भजक्षमां जहि मदं पापे रति मा कृथाः
सत्यं ब्रूह्मनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनम् ।
मान्यान्मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रच्छादय स्वान्गुणान्
कीर्ति पालय दुःखिते कुरुः दयापेतत्सतां लक्षणम् ।।७८।।

लोभ त्यागो, क्षमा को अपनाओ, अहंकार का त्याग करो, पाप में मन न लगाओ, सत्य बोलो, सत्पुरुषों के मार्ग का अनुसरण करो, विद्वानों की सेवा करो, पूज्यों की पूजा करो, शत्रुओं के साथ विनय का व्यवहार करो, नम्रता को प्रकट करो, कीर्ति की रक्षा करो, दुःखियों पर दया करो, ये सब सज्जनों के लक्षण हैं ।।७८।।

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा—
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ।।७९।।

जिनका मन, वचन और शरीर पुण्य रूपी अमृत से परिपूर्ण है, परोपकार द्वारा तीनों लोक को प्रसन्न करने वाले हैं, दूसरों के छोटे से छोटे गुण को पर्वताकार मानकर आनन्दित होने वाले हैं ऐसे सज्जन कितने हैं ।।७९।।

किं तेन हेमगिरीणा रजताद्रिणा वा
यत्राश्रिताश्च तरवस्तरवस्त एव ।
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण
कङ्कोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनः स्युः ।।८०।।

उस सुवर्ण पर्वत सुमेरु अथवा रजत पर्वत हिमांचल से ही क्या लाभ ? जहां के पेड़-पेड़ ही रह गये, हम तो उस मलयाचल को ही धन्य समझते हैं जिसके आश्रय में रहने वाले कंकोल नीम और कुरैया आदि के पेड़ भी चन्दन हो गये ।।८०।।

रत्नैर्महार्हैस्तुतुषुर्न देवा न भेजिरे भीमविषेण भीतिम् ।
सुधां बिना न प्रययुर्विरामं
न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः ॥८१॥

समुद्र मंथन के समय बहुमूल्य रत्नों के प्राप्त होने पर भी देवगण सन्तुष्ट नहीं हुए। भयंकर विष के मिलने पर भी नहीं डरे और बिना अमृत पाये वे मन्थन रूप कार्य से रुके नहीं ? ठीक ही है, वुद्धिमान् और धीर पुरुष अभीष्ट वस्तु को प्राप्त किये विना प्रारब्ध कार्य को छोड़ते नहीं ॥८१॥

क्वचिद् भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनः
क्वचिच्छाकाहारः क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः ।
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुखं न च सुखम् ॥८२॥

किसी कार्य की सिद्धि में लगा हुआ विद्वान सुख और दुःख की परवाह नहीं किया करता। कभी तो वह बिछौना न मिलने पर भूमि पर ही सो जाता है, कभी मिल जाने पर पलंग पर, कभी सागपात खाकर ही पेट भर लिया करता है तो कभी साठी के धान का भात भी खा लेता है, कभी गुदड़ी ही पहनकर निर्वाह कर लेता है तो कभी दिव्य (अच्छे-अच्छे) वस्त्र भी धारण कर लेता है ॥८२॥

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः ।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम् ॥८३॥

सम्पत्ति सज्जनता से, वीरता कम बोलने से, ज्ञान शान्ति से, शास्त्र नम्रता से, धन सद्व्यय से, तपस्या अक्रोध से, प्रभु क्षमा से, धर्म छल नहीं करने से शोभित होता है, परन्तु सभी का कारण स्वरूप 'सदाचार' सभी का भूषण है ।।८३।।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ।।८४।।

नीति निपुण विद्वान् निंदा करें अथवा स्तुति, लक्ष्मी प्राप्त हो अथवा पास की भी चली जाय, आज ही मृत्यु हो अथवा एक युग बाद, परन्तु गम्भीर पुरुष न्याय मार्ग से च्युत नहीं होते ।।८४।।

भाग्यनाशस्य करण्डपीडिततनोर्म्लानेन्द्रियस्य क्षुधा
कृत्वाऽऽखुविवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः ।
तृप्तस्तत्पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा
लोकाः पश्यत दैवमेव हि नृणां वृद्धौक्षये कारणम् ।।८५।।

सज्जनों ! देखो, जिस पिटारी में साँप वन्द था और भूख से व्याकुल था, उस पिटारी में रात्रि में चूहे ने प्रवेश किया और उसमें जाकर वह उस भूखे साँप का आहार बन गया । वह साँप भी उसके मांस से तृप्त होकर उसी छिद्र के मार्ग से निकल भागा । इससे मालूम होता है कि प्राणियों की वृद्धि तथा क्षय होने में भाग्य ही कारण है ।।८५।।

पतितोऽपि कराघातैरुत्पतत्येव कन्दुकः ।
प्रायेण साधु वृत्तानामस्थायिन्यो विपत्तयः ।।८६।।

हाथ से नीचे पटका हुआ भी गेंद ऊपर ही ऊपर उछलता रहता है। इससे मालूम पड़ता है कि सज्जनों की विपत्ति स्वल्प काल तक ही रहा करती है ।।८६।।

आलस्यं हि मनुष्याणं शरीरस्थो महात्रिपुः ।
नास्त्युद्यमसमो वन्धुर्यं कृत्वा नावसीदति ।।८७।।

मनुष्यों के शरीर में रहने वाला आलस्य उसका सवसे वड़ा शत्रु है और पुरुषार्थ के वरावर कोई मित्र भी नहीं है, जिसके करते रहने पर मनुप्य दुःख नहीं पाता ।।८७।।

छिन्नोऽपि रोहति तरुः क्षोणोऽयुपचीयते पुनश्चन्द्र ।
इति विमृशन्तः सन्तः संतप्यन्ते न ते विपदा ।।८८।।

कटा हुआ भी पेड़ पुनः उत्पन्न होता है और क्षीण भी चन्द्रमा पुनः बढ़ने लगता है, इस नीति को समझते हुए सज्जन विपत्ति में भी दुःखी नहीं होते हैं ।।८८।।

नेता यस्य वृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः किल हरेरैरावतो वारणः ।
इत्यैश्वर्यबलान्वितोऽपि बलभिद्भग्नः परैः सङ्गरे
तद्व्यक्तं वरमेवदैवशरणंधिग्धिग्वृथा पौषम् ।।८९।।

साक्षात् वृहस्पति जिसके नेता हैं, वज्र जिसका अस्त्र है, देवगण जिसके सैनिक हैं, स्वर्ग जिसका किला है, ऐरावत

जिसका हाथी है, इस तरह सर्वविध ऐश्वर्य तथा बल से सम्पन्न भी इन्द्र जब युद्ध में शत्रुओं से हार गया तो इससे यही प्रतीत होता है कि दैव ही रक्षक ठीक है, निरर्थक पौरुष को अनेक बार धिक्कार है ॥८९॥

कर्मायत्तं फलं पुम्सां बुद्धिः कर्मानुसारिणी ।
तथापि सुधिया कार्यं कर्तव्यं सुविचारतः ॥९०॥

मनुष्यों का सुख-दुख उनके पूर्वकृत कर्म के आधीन है और बुद्धि भी कर्म के अनुसार कार्य किया करती है । फिर भी बुद्धि-मान् को समझ बूझ कर ही कार्य करना चाहिए ॥९०॥

खल्वाटो दिसेश्वरस्य किरणैः सन्तापिते मस्तके
घाञ्छन्देशमनातपं विधिवशात्तालस्य मूलं गतः ।
तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्न सशब्दं शिरः
प्रायोगच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः । ९१॥

गंजा (जिसके सिर पर बाल नहीं) हुआ आदमी सूर्य की किरणों से बचने के लिए छाया युक्त स्थान को खोजता हुआ ताड़के पेड़ के नीचे आया, वहाँ भी एक वड़े फल के गिरने से, आवाज के साथ उसका सिर फट गया । ठीक ही है भाग्यहीन पुरुष जहाँ-जहाँ जाता है, वहीं-वहीं विपत्तियाँ भी पहुंचती हैं ॥९१॥

शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं
गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम् ।
मतिमताञ्चविलोक्यदरिद्रतां
विधिरहोबलवानितिमेमतिः ।९२॥

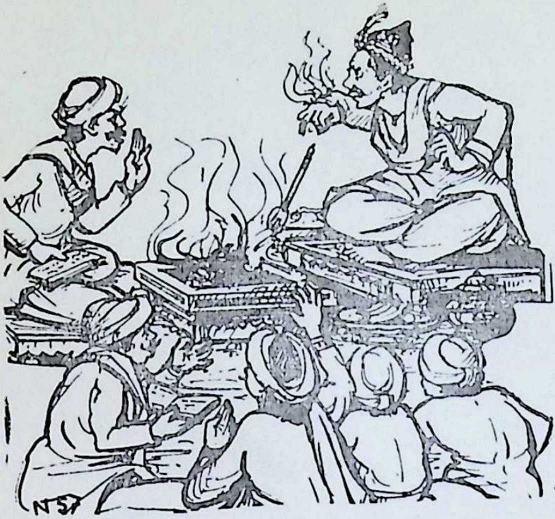

क्रोधी राजाओं का कोई भी अपना नहीं होता। जैसे छू जाने से हवन की अग्नि भी जलाती ही है।
(नी० श० ५७)

सुबह मित्रता करना और शाम को झगड़ा कर लेना, दुष्टों का स्वभाव ही ऐसा होता है।
(नी० श० ६०)

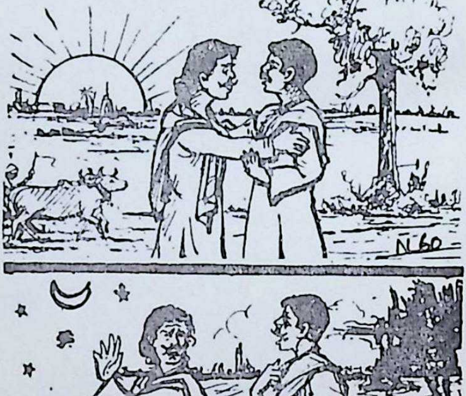

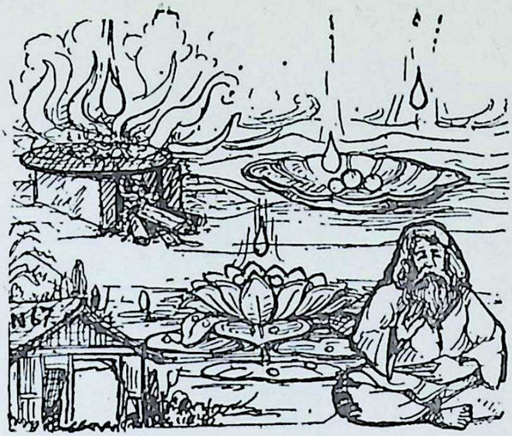

जैसा संग होता है वैसे ही गुण आते हैं, देखिए पानी की वही बूंद सीपी में, कमल के फूल पर और तपते हुए लोहे पर गिरती है तो अलग-अलग दशा को प्राप्त होती है। (नी० श० ६७)

एक गंजा आदमी धूप से बचने के लिए ताड़ के पेड़ के नीचे आया तो वहां भी एक फल के गिरने से उसका सिर फट गया; ठीक ही है कि भाग्यहीन पुरुष जहां भी जाता है मुसीबत भी वहीं पहुंच जाती है। (नी० श० ९१)

सूर्य चन्द्रमा का राहु द्वारा ग्रसा जाना, हाथी और साँप का बाँधा जाना और विद्वानों की दरिद्रता आदि को देखकर मैं यही समझता हूँ कि भाग्य ही बलवान् है ॥९२॥

सृजति तावदशेषगुणाकरं
पुरुषरत्नमलङ्करणं भुवः ।
तदपि तत्क्षणभङ्गि करोति
चेदहह कष्टमपण्डितता विधेः ॥९३॥

ब्रह्मा की कितनी बड़ी मूर्खता है कि वह गुणों के समस्त आकार और पृथ्वी के भूषण स्वरूप जिस पुरुष रत्न को उत्पन्न करता है उसी को थोड़ी देर में नष्ट होने वाला बना देता है ॥९३॥

पत्रं नैव यदा करीर विटपे दोषो वसन्तस्य किं
नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम् ।
धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणं
यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः ॥९४॥

यदि करील वृक्ष में पत्ते न लगें तो इसमें बसन्त ऋतु का क्या दोष ?—यदि दिन में उल्लू को न दिखाई दे तो इसमें सूर्य का क्या दोष ?—इन बातों के देखने से मालूम पड़ता है कि विधाता ने ललाट में पहले से जो लिख रखा है, उसको कोई मिटा नहीं सकता ॥९४॥

अथ कर्म प्रशंसा

नमस्यामो देवान्ननु हतविधेस्तेऽपि वशगा
विधिर्वन्द्य सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः ।
फलं कर्मायत्तं किममरगणैः किञ्च विधिना ।
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ।।९५।।

हम लोग देवताओं को नमस्कार करते हैं, पर वे भी दुष्ट विधि के ही आधीन हैं, इसलिए यदि हम विधाता को नमस्कार करते हैं तो वह विधाता भी स्वतन्त्रतया हमको फल देने में समर्थ नहीं है, कर्म के अनुसार ही फल देता है, इसलिए जव फल कर्म के ही अनुसार मिलता है तव हमें क्या मतलव देवताओं से और क्या मतलव विधाता से ? उस कर्म को ही क्यों न नमस्कार करें, जिस पर विधाता का भी कोई वश नहीं चलता ।।९५।।

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासंकटे ।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ।।९६।।

जिसने ब्रह्माण्ड रूपी वर्तन के भीतर ब्रह्मा को कुम्हार की तरह नियुक्त किया, विष्णु को दशावतार ग्रहण करने रूप महाविपत्ति में डाल दिया, जिसने महादेव को भी हाथ में खप्पर लेकर भीख माँगने के लिए वाध्य किया और जिसके कारण सूर्य को भी आकाश में नित्य भ्रमण करना पड़ा उस कर्म को ही नमस्कार है ।।९६।।

नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलं
विद्याऽपि नैव न च यत्कतापि सेवा।
भाग्यानि पूर्वतपसा खलु सञ्चितानी
काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः ॥६७।

मनुष्य को फल देने वाली न तो उसकी सुन्दर आकृति है, न उसका ऊँचा कुल है, न सत्स्वभाव है, न विद्या है, न परिश्रम पूर्वक की गई स्वामी सेवा ही है, किन्तु पूर्वजन्म में किये गये तप से संचित भाग्य ही, समय आ जाने पर वृक्ष की तरह फल दिया करता है ॥६७॥

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये
महार्णवे पर्वतमस्तके वा ।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थिते वा
रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ॥६८॥

पूर्वजन्म में किया हुआ पुण्य ही, पुरुष की वन में, रण में, शत्रुओं से घिर जाने पर, जल में, अग्नि में. महासमुद्र में, पर्वत की चोटी पर, सुप्तावस्था में, असावधानी में और संकटकाल आ जाने पर रक्षा किया करता है ॥६८॥

या साधूंश्च खलान्करोति विदुषो मूर्खान्हितान्द्वेषिणः
प्रत्यक्षंकुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत्क्षणात् ।
तामाराधय सत्क्रियां भगवती भोक्तुं फलं वाञ्छितं
हे साधो व्यसनैर्गुणेषु विपुलेष्वास्थां वृथामाकृथाः॥६९॥

हे महापुरुष ! वांछित फल प्राप्ति के लिए जो दुष्टों को सज्जन, मूर्खों को विद्वान्, शत्रुओं को मित्र, आँखों की ओट में

स्थित वस्तु को आँखों के सामने और विष को तत्काल अमृत वना सकती है, उसी एकमात्र सत्क्रिया रूपी भगवती की आरा-धना करो ॥९९॥

गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यमादौ
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ।
अतिरधसकृतनां कर्मणामाविपत्तर्भवति
हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥१००॥

विद्वान् को उचित है कि भला या बुरा कर्म करने से पहले ही उसके परिणाम को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। विना विचार किये जल्दी वाजी में किये कर्म का फल मरण पर्यन्त हृदय को जलाने वाला होता है और कांटे की तरह चुभा करता है ॥१००॥

स्थाल्यां वैदूर्यय्यांपचतितिलकणांश्चान्दनैरिन्धनाद्यैः
सौवर्णैर्लाङ्गलाग्रैर्विलिखिति वसुधामर्कमूलस्य हेतोः
छित्वाकर्पूरखण्डान्वृतिमिहकुरुतेकोद्रवाणां समन्तात्
प्राप्येमां कर्मभूमिं चरति न मनुजो यस्तपो मन्दभाग्य ॥१०१॥

जो अभागा मनुष्य इस कर्म भूमि संसार में जन्म लेकर तप नहीं करता है, वह मरकत (पन्ना) रत्न से वने हुए पात्र में चन्दन की लकड़ी से तिल के दानों को पकाता है, आक के पेड़ की जड़ का पता लगाने के लिए सोने के हल से पृथ्वी को जोतता है और कपूर के टुकड़ों को तोड़-फोड़कर कोदो के खेत में चारों ओर डाँड वनाता है ॥१०१॥

मज्जत्वम्भसि यातु मेरुशिखरं शत्रुञ्जयत्वाहवे
वाणिज्यं कृषिसेवनादिसकला विद्याः कलाः शिक्षतु ।
आकाशं विपुलं प्रयातु खगवत्कृत्वा प्रयत्नं परं
नाभाव्यं भवतीह कर्मवशतो भाव्यस्य नाशःकुतः ॥१०२॥

मनुष्य चाहे जल में गोता लगाता रहे, चाहे सुमेरु पर्वत की चोटी पर चढ़कर बैठे, युद्ध में भले ही शत्रुओं को जीत ले, वाणिज्य, कृषि, सेवा इत्यादि समस्त कलाओं में भले ही निपुण हो जाय, काफी प्रयत्न कर पक्षियों की तरह आकाश में उड़ते रहने की कला भी प्राप्त कर ले, फिर भी संसार में जो बात अनहोनी है वह हो नहीं सकती और जो होनी है वह विना हुए टल नहीं सकती ॥१०२॥

भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं
सर्वो जनः सुजनतामुपयाति तस्य ।
कृत्स्ना च भूर्भवति सन्नधिरत्नपूर्णा
यस्याऽस्पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य ॥१०३॥

जिस मनुष्य ने पूर्व जन्म में अत्यधिक पुण्य किया है, उसके लिए भयंकर वन भी राजधानी बन जाता है, समस्त लोग सज्जन हो जाते हैं, सारी पृथ्वी खजानों और रत्नों से भरी पूरी हो जाती है ॥१०३॥

को लाभो गुणिसङ्गमः किमसुखं प्राज्ञेतरैः सङ्गतिः
का हानिः समयच्युतिर्निपुणता को धर्मतत्त्वे रतिः ।
कः शूरो विजितेन्द्रियः प्रियतमा काऽनुव्रता किं धनं
विद्या किं सुखमप्रवासगमनं राज्यं किमाज्ञाफलम् ॥१०४॥

इस संसार में जन्म लेने का क्या लाभ है ?—गुणियों का संग। दुःख क्या है ?—मूर्खों का संग। हानि क्या है ?—समय को व्यर्थ विताना। निपुणता क्या है ?—धर्म में अनुरक्ति। शूर कौन है ? जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है। प्रियतमा कौन है ?—पतिव्रता। धन क्या है ?—विद्या। सुख क्या है ?—प्रवास न करना। राज्य क्या है ?—आज्ञा का उलंघन न होना ॥१०४॥

मालतीकुसुमस्येव द्वे गती स्तो मनस्विनः।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य शीर्यते वन एव वा ॥१०५॥

मालती के फूलों की तरह विद्वान् मनुष्यों की दो ही गतियाँ हुआ करती हैं—या तो वे कर्मों के सिरताज होकर रहा करते हैं या वन में ही तप के द्वारा शरीर का त्याग कर देते हैं ॥१०५॥

अप्रियवचनदरिद्रै प्रियवचनाढ्यैः स्वदारपरितुष्टैः।
परपरिवादनिवृत्तैः क्वचित्क्वचिन्मण्डितावसुधा ॥१०६॥

पृथ्वी कहीं-कहीं ऐसे ही योग्य पुरुषों से सुशोभित होती है जो अप्रिय बचन बोलते ही नहीं, सदा प्रिय वचन बोला करते हैं, अपनी ही विवाहिता स्त्री से सदा सन्तुष्ट रहा करते हैं और दूसरों की निन्दा से सदा दूर रहा करते हैं ॥१०६॥

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षाणन्मेरुः
स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरगायंते।
ब्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते
यस्यांगेऽखिललोकवल्लभतमंशीलं समुन्मीलति ॥१०७॥

समस्त लोक का अत्यन्त प्रिय शील जिसके शरीर में विद्यमान है उसके लिए अग्नि जल के समान है, समुद्र छोटी नदी के समान है, सुमेरु पर्वत साधारण पत्थर की चट्टान के समान है, सिंह मृग के समान है, सर्प फूलों की माला के समान है और विष भी बरसते हुए अमृत के समान है ॥१०७॥

लज्जागुणौघजननीं जननीमिव
स्वामत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमानाम्।
तेजस्विनः सुखमसूनपि सत्यजन्ति
सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥१०८॥

सत्य व्रत की रक्षा करने वाले तेजस्वी पुरुष अपने प्राणों को भी हँसते-हँसते त्याग देते हैं, परन्तु लज्जा आदि गुणों को उत्पन्न करने वाली अपनी माता के समान शुद्ध हृदय वाली और सदा स्वाधीन रहने वाली अपनी प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ते ॥१०८॥

॥ नीति शतक समाप्तम् ॥

श्रृङ्गारशतक

॥ श्रीः ॥

अथ श्रृंगारशतकम्

शम्भुस्वयम्भुहरयो हरिणेक्षणानां
येनाक्रियन्त सततं गृहकर्मदासाः ।
वाचामगोचरचरित्रविचित्रताय
तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय ॥१॥

विचित्र चरित्र होने के कारण जिनका वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता और जिन्होंने ब्रह्मा-विष्णु और महादेव को भी मृगों के नेत्रों के समान सुन्दर नेत्र वाली सरस्वती, लक्ष्मी और पार्वती को गृहकर्म करने के लिए दास बना रक्खा है, हम उन भगवान् कामदेव को नमस्कार करते हैं ॥१॥

स्मितेन भावेन च लज्जया भिया
पराङ्मुखैरर्द्धकटाक्षवीक्षणैः ।
वचोभिरीर्ष्याकलहेन लीलया
समस्तभावैः खलु बन्धनं स्त्रियः ॥२॥

स्त्रियाँ, अपनी मन्द मुस्कान से, काम के विचार को प्रकट करने वाले अपने भाव से, लज्जा से, लोकभय से, मुँह फेर लेने से, आधे कटाक्ष (कनखी) द्वारा देखने से, मधुर भाषण से, ईर्ष्या, कलह और काम-कला इत्यादि समस्त भावों से पुरुष को बंधन स्वरूप रखती हैं ॥२॥

भ्रूचातुर्यात्कुञ्चिताक्षाः कटाक्षा
स्निग्धा वाचो लज्जितान्ताश्च हासाः ।
लीलामन्दं प्रस्थितञ्च स्थितञ्च
स्त्रीणामेतद्भूषणं चायुधञ्च ॥३॥

भौंहों के फेरने की चतुराई से पूर्ण आंखों का मारना, मधुर भापण करना, मुस्कुराहट के साथ लज्जा के भाव को दिखाना, इठलाते हुए रुक-रुककर चलना आदि स्त्रियों के भूपण हैं और ये ही वातें उनके शस्त्र भी हैं ॥३॥

क्वचित्सभ्रू भङ्गैः क्वचिदपि च लज्जापरिणतैः
क्वचिद्भीतित्रस्तैः क्वचिदपि च लीलाविलसितैः ।
नवोढानामेभिर्वदनकमलैर्नेत्रचलितैः
स्फुरन्नीलाब्जानां प्रकरपरिपूर्णा इव दृशः ॥४॥

कहीं-कहीं नवतरुणी सुन्दरियों के मनोहर भौंहों की तिरछी मार से, कहीं-कहीं अत्यधिक भयभीत होने से, कहीं-कहीं लीला विलासों आदि काम के आविर्भाव को सूचित करने वाले भावों से तथा सुन्दर रमणियों के नेत्र व्यापार से सारी दिशाएँ खिले हुए नीलकमलों के समूहों से व्याप्त की तरह दिखायी देती हैं ॥४॥

वक्त्रं चन्द्रविकासि पङ्कजपरीहासक्षमे लोचने ।
स्वर्णमपाकरिष्णुरलिनीजिष्णुः कचानाञ्चयः ।
वक्षोजाविभकुम्भसंभ्रमहरौ गुर्वी नितम्बस्थली ।
वाचां हारि च मार्दव युवतिषु स्वाभाविकं मण्डलम ॥५।

चन्द्रमा के समान खिलने वाला मुख, कमल को लजाने वाले नेत्र, सुवर्ण के समान कान्तियुक्त शरीर, भ्रमरियों को भी जीतने वाले काले-काले केश, हाथी के कुम्भ स्थल की शोभा को हराने वाले स्तन, स्थूल नितम्बस्थल, मन को हरण करने वाली वाणी की मधुरता आदि सारी बातें तरुणी सुन्दरियों के अकृत्रिम भूषण हैं ।।५।।

स्मितं किञ्चिद्वक्त्रे सरलतरलो दृष्टिविभवः
परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोक्तिसरसः ।
गतानामारम्भः किसलयितलीलापरिकरः
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिह न हि रम्यं मृगदृशः ।।६।।

मुख पर मन्द मुस्कान, स्वाभाविक चाञ्चल्यपूर्ण अवलोकन, बातचीत में प्रतिक्षण नई-नई विलासपूर्ण सरल उक्तियाँ, लीला की समृद्धि से गति के विलास को पल्लवित करना, आदि बातें जवानी की सीमा पर पैर रखने वाली सुन्दरी के प्रत्येक अंगों में अपने आप ही फड़कने लगती हैं। तारुण्य के आरम्भ में स्त्रियों का कौन ऐसा अंग है, जिसमें लोकोत्तर सौन्दर्य का आविर्भाव नहीं होता ।।६।।

द्रष्टव्येषु किमुत्तमं मृगदृशां प्रेमप्रसन्नं मुखं
घ्रातव्येष्वपि किं तदास्यपवनः श्राव्येषु किं तद्वचः ।
किं स्वाद्येषु तदोष्ठपल्लवरसः स्पृश्येषु किं तनुर्ध्रुवं
किं नवयौवनं सहृदयैः सर्वत्र तद्विभ्रमः ।।७।।

इस असार-संसार में सहृदय रसिकों के लिए देखने योग्य वस्तु कौन है ?—प्रिया का प्रेम से प्रसन्न मुख। सूँघे जाने वाले पदार्थों में उत्तम पदार्थ कौन है ?—प्रिया के मुख का श्वाँस।

सुनने योग्य वचनों में सर्वोत्तम सुनना क्या है ?—प्रिया का कोमल और मधुर भाषण। स्वादिष्ट पदार्थों में उत्तम पदार्थ क्या है ?—प्रिया का अधरामृत। स्पर्श करने योग्य पदार्थों में उत्तम पदार्थ क्या है ? कुसुम सुकुमार प्रिया का शरीर। ध्यान करने योग्य वस्तुओं में सर्वश्रेष्ठ ध्येय क्या है ?—प्रियतमा का नवतारुण्य और उसके हाव-भावादि विलास ॥७॥

एताः स्खलद्‌बलयसंहतिमेखलोत्थझङ्कार
नूपुरपराजितराजहंस्यः।
कुर्वन्ति कस्य न मनो विवशं तरुण्यो
वित्रस्मुग्धहरिणीसदृशैः कटाक्षैः ॥८॥

जिन सुन्दरियों ने अपने कंकणों और करधनी में लगे घुंघरुओं के शब्द से तथा पैंजनी के मधुर झंकार से राज हंसियों के कलनाद और मन्दगति को जीत लिया है, ऐसी सुन्दरी नवयुवतियाँ भय से चकित हरिणी के नेत्र के समान चञ्चल कटाक्ष बाणों से किसके मन को विवश नहीं करतीं ॥८॥

कुंकुमपङ्ककलङ्कितदेहा गौरपयोधरकम्पितहारा।
नूपुरहंसरणत्पदपद्मा कं नवशीकुरुते भुवि रामा ॥९॥

जिसका शरीर केशर के उबटन से सुन्दर बना हुआ है, जिसके गुलाबी स्तनों पर मोती का हार झूल रहा है, जिसके चरण कमल में नूपुर रूपी हंस शब्द कर रहे हैं, ऐसी लोकोत्तर सुन्दरी किसको अपने वश में नहीं कर लेती ? ॥९॥

नूनं हि ते कविवरा विपरीतबोधा
ये नित्यमाहुरबला इति कामिनीनाम्।

याभिर्विलोलतरतारकदृष्टिपातैः
शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबलाः कथंताः ॥१०॥

इसमें कोई संशय नहीं कि वे कवि श्रेष्ठ उलटी वुद्धि के हैं जो लोक प्रसिद्ध सुन्दरियों को अबला (वलरहिता) कहा करते हैं, क्योंकि जिन्होंने अपनी चंचल पुतलियों वाली आँखों की मार से इन्द्रादिकों को भी जीत लिया फिर भला वे अवला कैसे कही जा सकती हैं ॥१०॥

नूनमाज्ञाकरस्तस्याः सुभ्रुवो मकरध्वजः ।
यतस्तन्नेत्रसञ्चारसूचितेषु प्रवर्तते ॥११॥

यह विल्कुल सत्य है कि भगवान कामदेव सुन्दर भौंहों वाली इन्हीं तरुणियों का आज्ञा पालक दास है। क्योंकि वे जिसकी ओर अपनी आँखें फेरती हैं, कामदेव भी उसी ओर अपना व्यापार शुरू कर देता है ॥११॥

केशाः संयमिनः श्रुतेरपि परं पारं लोचने
अन्तर्वक्त्रमपि स्वभावशुचिभिः कीर्णं द्विजानां गणैः।
मुक्तानां सतताधिवासरुचिरौ वक्षोजकुम्भाविमावित्थं
तन्वि वपुः प्रशान्तमपि ते क्षोभं करोत्येवनः ॥१२॥

हे सुन्दरी ! तेरा शरीर, जिसमें केश संवारे हुए हैं, नेत्र कान से भी पार हो गये हैं, मुख का भीतरी भाग भी स्वाभाविक निर्मल दन्त पंक्तियों से व्याप्त है, यह दोनों कलश निरन्तर मोतियों के हार के रहने से शोभायमान लग रहे हैं इस तरह सर्वाङ्ग सुन्दर भी यह हम लोगों के मन को क्षुव्ध (अशान्त) कर रहा है।

अथवा

केश संयमी है अर्थात् नियमादिका पालन करने वाले व्रती हैं, नेत्र श्रुति से पार हो चुके हैं अर्थात् उपनिषदादि समस्त श्रुतियों का श्रवण कर चुके हैं, मुख का भीतरी भाग शुचि (निर्मल) द्विजों (ब्राह्मणों) से व्याप्त है अर्थात् पवित्र द्विजों से अधिष्ठित है, दोनों स्तन कलश हृदय में मुक्त जीवन्मुक्त महात्माओं के निरन्तर निवास से सुन्दर लग रहे हैं इस तरह सर्व प्रकार से शान्त भी तेरा शरीर संसार पुरुषों के मन में अनुराग को उत्पन्न कर अशान्त करता ही है ॥१२॥

मुग्धे धानुष्कता केयमपूर्वा त्वयि दृश्यते ।
यदाहरसि चेतांसि गुणैरेव न सायकैः ॥१३॥

हे सुन्दरी ! तुम्हारे में धनुर्विद्या की यह अपूर्व चतुरता कैसी दिखाई दे रही है; मैं नहीं समझ पाता, जो केवल अपने गुण (प्रत्यञ्चा पक्षान्तर में सौन्दर्यादि) से ही रसिकों के मन को हर लेती है, वाणों से नहीं ॥१३॥

सती प्रदीप सत्यग्नौ सत्सु ताराखीन्दुषु ।
विना मे मृगशावाक्ष्या तमोभूतमिदं जगत् ॥१४॥

अन्धेरे को नाश करने वाले दीप, अग्नि, नक्षत्र, सूर्य और चन्द्रमा आदि के रहते हुए भी यदि मेरी मृगनयनी मेरे पास नहीं है तो मेरे लिए यह सारा संसार अन्धेरा ही है ॥१४॥

उद्वृत्तः स्तनभार एष तरले नेत्रे चले भ्रूलते
रागान्धषु तदोष्ठपल्लवमिदं कुर्वन्तु नाम व्यथाम् ।

सौभाग्याक्षरपंक्तिरेव लखिता पुष्पायुधेन स्वयं
मध्यस्थापिकरोतितापमधिकं रोमावलिः केनसा ।।१५।।

हे सुन्दरी ! उभरे हुए स्तनों का भार, चंचल नेत्र, चलायमान तिरछी भौंहें, लालिमा से युक्त अधर पल्लव, ये सब कामान्धों को भले ही पीड़ा दें क्योंकि उद्धृत्त (चरित्रहीन, चंचल, अस्थिर राग और ईर्ष्यावालों) को पीड़ा देना धर्म ही है, परन्तु कामदेव के द्वारा लिखी गई सौभाग्य सूचक अक्षरमाला की तरह मध्य भाग में स्थित रोमावली क्यों पीड़ा देती, क्योंकि मध्यस्थ को तो तटस्थ रहना चाहिये, किसी एक पक्ष को पीड़ा देना उचित नहीं है ।।१५।।

मुखेन चन्द्रकान्तेन महानीलैः शिरोरुहैः ।
पाणिभ्यां पद्रागाभ्यां रेज रत्नमयीव सा ।।१६।।

स्त्री, चन्द्रकान्त मणि के समान मुख से, महानील मणि के ान काले-काले बालों से, पद्मराग (कमल की लालिमा) के न कोमल हाथों में रत्नस्वरूप मालूम पड़ती है ।।१६।।

गुरुणा स्तनभारण सुखचन्द्रेण भास्वता ।
शनैश्चराभ्यां पदाभ्यां रेजे ग्रहमयीव सा ।।१७।।

'गुरु' स्तन के भार से, प्रकाशमान मुख 'चन्द्र' से और 'शनैश्चराभ्या' धीरे-धीरे चलने वाले पैरों से, इस तरह गुरु, चन्द्र और शनैश्चर इन तीनों ग्रहों के धर्म उसमें रहने के कारण वह ग्रह स्वरूप ही मालूम पड़ती है ।।१७।।

तस्याः स्तनौ यदि घनौ जघनश्च हारि
वक्त्रं च चारु तव चित्त किमाकुलत्वम् ।
पुण्यं कुरुष्व यदि तेषु तवास्ति वाञ्छा
पुण्यैर्विना न हि भवन्ति समीहितार्थाः ॥१८॥

हे चित्त ! उस सुन्दरी के स्तन यदि कड़े हैं, नितम्ब भाग यदि मनोहर है, मुख यदि सुन्दर है तो तू क्यों व्याकुल हो रहा है। तेरी यदि इनको प्राप्त करने की इच्छा हो तो पुण्य कर, विना पुण्य किये मनोरथ सिद्ध नहीं हुआ करते ॥१८॥

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमिदं वदन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत
स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥१९॥

हे महाशयो ! ईर्ष्या रहित होकर और कर्तव्य का अच्छी प्रकार निश्चय कर इस बात को कहें कि पहाड़ों के नितम्ब (कन्दरा) और मन्दोन्मत्तनायिका के नितम्ब इनमें से किसका आश्रय लेना श्रेयस्कर है ॥१९॥

संसारेऽस्मिन्नसारे परिणतितरले द्वेगती पण्डितानां ।
तत्वज्ञानामृताम्भः प्लवललितधियांयातुकालः कदाचित
नोचेन्मुग्धाङ्गनानां स्तन जघनभराभोगसंभोगिनीनां
स्थूलोपस्थस्थलीषु स्थगितकरतमस्पर्शलीलोद्यतानाम् ॥२०॥

परिवर्तनशील इस असार संसार में पण्डितों की दो ही गतियाँ हैं या तो तत्वज्ञानरूपी अमृतसर क्रीड़ा सरोवर में स्नान करते हुए समय वितावें अथवा स्तन-मर्दन पूर्वक सघन-जघन के

विस्तार में संभोग चाहने वाली नवयौवना सुन्दरी रमणियों की मदनमन्दिर की पुष्ट भूमि पर हाथ रख, स्पर्श सुख का अनुभव करते हुए अपने समय को बितावें ।।२०।।

समोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति ।
एताः प्रविश्य सदयं हृदयं नाराणां
किं नाम वामनयना न समाचरन्ति ।।२१।।

नव युवतियाँ, पुरुषों के हृदय में घुसकर क्या-क्या नहीं कर गुजरती हैं ? सर्वप्रथम तो ये पुरुषों का सामना होते ही उन्हें अपने मोहजाल में फाँस लेती हैं, उनको पागल बना देती हैं स्वयं उनका अनुकरण करने लग जाती हैं, काम-क्रीड़ा करने लगती हैं, और उनके चले जाने पर दुःख का अभिनय करने लगती हैं ।।२१।।

विश्रम्य विश्रम्य वनद्रुमाणां छायासु तन्वी विचचार काचित्
स्तनोत्तरीयेण करोद्धृतेन निवारयन्ती शशिनो मयूखाम् ।।२२।।

कोई नव युवती, जंगलों पेड़ों की सघन छाया में विश्राम कर और हाथ से उठाए हुए अपने स्तनों पर के वस्त्र द्वारा चन्द्रमा के किरणों के संताप से अपने आपको बचाती हुई भ्रमण कर रही है ।।२२।।

अदर्शने दर्शनमात्रकामा दृष्ट्वा परिष्वंगरसैकलोलाः ।
आलिंगतायाः पुनरायताक्ष्या आशास्महे विग्रहयोरभेदम् ।।२३।।

जब तक हम अपनी प्रियतमा को देख नहीं पाते तब तक उसे देखने की ही इच्छा हुआ करती है, देख लेने पर फिर उसके

आलिंगन करने की इच्छा होती है। आलिंगन कर लेने पर फिर यह इच्छा होती है कि हम दोनों इसी तरह बराबर लिपटे पड़े रहें, हम में बिलगाव न हो ॥२३॥

मालती शिरसि जृम्भणोन्मुखी
चन्दनं वपुषि कुंकुमान्वितम् ।
वक्षसि प्रियतमा मनोहरा
स्वर्ग एष परिशिष्ट आगमः ॥२४॥

खिलने वाली मालती की माला गले में पड़ी हो, केसर मिश्रित चंदन का उबटन शरीर में लगा हुआ हो और प्राणप्यारी सुन्दरी छाती से लिपटी रहे तो समझना चाहिए कि असली स्वर्ग यही है। स्वर्ग को कहने वाला शास्त्र गौण है ॥२४॥

प्राङ्मा मेति मनागनागतरसं जाताभिलाषं ततः
सव्रीडं तदनु श्लथोद्यतमनुप्रध्वस्तधैर्यं पुनः ।
प्रेमार्द्रं स्पृहणीयनिर्भररहः क्रीडाप्रगल्भं ततो
निःशङ्काङ्गविकर्षणादिकसुखं रम्यं कुलस्त्रीरतम् ॥२५॥

कुलीन स्त्रियाँ रसोत्पत्ति न होने के कारण पहले नहीं-नहीं ऐसा कहती हैं इसके बाद काम की इच्छा होने पर लज्जित होने लगती हैं, इसके बाद शरीर के भागों को जँभाई अदि के द्वारा ढीला करने लगती हैं, इसके उपरान्त उनके धीरज का बाँध टूटने लगता है और वे पुरुष के अनुकूल हो जाती हैं एवं प्रेम रस से भीगी हुई एकान्त काम केलि में अङ्ग-प्रत्यगों के आकर्पण और मर्दन द्वारा परमानन्द को देने वाला संभोग सुख दिया करती हैं ॥२५॥

उरसि निपतितानां स्त्रस्तधम्मिल्लकानां
मुकुलितनयनानां किञ्चिदुन्मीलितानाम् ।
सुरतजनितस्वेदस्विन्नगण्डस्थलीनामधरमधु
वधूनां भाग्यवन्तः पिवन्ति ॥२६॥

जिनकी छातियों पर अपने शरीर को लिटा दिया हो, जिनके केश पाश रति श्रम से बिखरे हुए हों; रति का आनन्द चरम सीमा को प्राप्त हो जाने पर आँख बन्द हो गई हों और बीच में कुछ-कुछ खुलती भी रहें, इस तरह की पुरुषायित रति के परिश्रम से उत्पन्न पसीने से आर्द्र कपोल स्थल वाली सुन्दरियों का अधरामृत विरले ही भाग्यवान पान करते हैं ॥२६॥

आमीलितनयनानां यः सुरतरसोऽनुसंविद कुरुते ।
मिथुनैर्मिथोऽवधरितभवितथमिदमेवकामनिर्वहणम् ॥२७॥

कामजन्य अन्नद से जिनकी आँख कुछ वन्द हो रही हैं ऐसे तरुण और तरुणियों को अनुभव में आने वाला रति का आस्वाद ही यथार्थ में काम पुरुषार्थ का स्वरूप है ॥२७॥

इदमनुचितमक्रमश्च पुंसां
यदिह जरास्वपि मान्यथा विकाराः ।
तदपि च न कृतं नितम्बिनीनां
स्तन पतनावधि जीवितं रतं वा ॥२८॥

पुरुषों के काम की वासना की सीमा न बाँधकर तथा स्त्रियों में स्तन ढुलकने तक उनके जीवन अथवा रति की मर्यादा

निश्चित न कर ब्रह्मा ने अनुचित ही किया जिससे वृद्धावस्था में भी काम के विकार उत्पन्न होते हैं और स्तन लटक जाने पर भी रति की इच्छा हुआ करती है ।।२८।।

एतत्कामफलं लोके यद् द्वयोरेकचित्तता ।
अन्यचित्तकृते कामं शवयोरिव सङ्गमः ।।२९।।

रति के समय स्त्री और पुरुषों की एकचित्तता ही कामोपासना का मुख्य फल है । यदि उस समय एक के चित्त में कामवासना हो और दूसरे के चित्त में न हो तो ऐसों का संगम मृतक के समान है ।।२९।।

आवासः क्रियतां गाङ्गे पापवारिणि वारिणि ।
स्तनमध्ये तरुण्या वा मनोहारिणि हारिणी ।।३०।।

या तो पाप नाशक जल वाले गंगा तट पर निवास करे अथवा मनोहर हार वाले तरुणी स्त्री के वक्षस्थल पर ।।३०।।

मधुरयं मधुरैरपि कोकिला
कलकलैर्मलयस्य च वायुभिः ।
विरहिणः प्रणिहन्ति शरीरिणो
विपदि हन्त सुधापि विषायते ।।३१।।

प्राणिमात्र को आनन्द देने वाला वसन्त मास, मलयाचल की वायु से मनोहर कोकिला के कलरव द्वारा विरहियों को मारता रहता है, ठीक ही है, विपत्तिकाल में अमृत भी विष का काम करता है ।।३१।।

सहकार कुसुमकेसरनिकरभरामोदमूर्च्छितदिगन्ते ।
मधुरमधुविधुरमधुपे मधौ भवेत्कस्य नोत्कण्ठ ॥३२॥

आम की नई मंजरियों के सुगन्ध से व्याप्त और मधुर मकरन्द के पान से उन्मत्त भ्रमर वाले वसन्त मास में किसको संभोग की इच्छा नहीं होती ॥३२॥

स्रजो हृद्यामोदा व्यजनपवनश्चन्द्रकिरणा ।
परागः कासारो मलयजरजः शीधु विशदम् ॥
शुचिः सौधोत्सङ्गः प्रतनु वसनं पङ्कजदृशो ।
निदाघे तूर्णं तत्सुखमुपलभन्ते सुकृतिनः ॥३३॥

मनोहर गन्धावली फूल की मालाएँ, पंखे की हवा, चन्द्रमा की किरण, पुष्प पराग, क्रीड़ा सरोवर, चन्दन धूलि, मद्य, विहार योग्य प्रसाद की अट्टालिकाएँ, अत्यन्त वारीक वस्त्र और कमल के समान नेत्र वाली सुन्दिरियाँ आदि संभोग सामग्री पुण्यात्माओं को ही प्राप्त होती हैं ॥३३॥

सुधाशुभ्रं धाम स्फुरदमलरश्मिः शशधरः
प्रियावक्त्राम्भोजं मलयजरजश्चातिसुरभिः ।
स्रजो हृद्यामोदास्तदिदमखिलं रागिणि जने
करोत्यन्तः क्षोभं न तु विषयसंसर्गविमुखे ॥३४॥

चूने की सफेदी से धवल भवन, निर्मल चन्द्रमा प्रिया का मुखकमल, सुगन्धित चन्दन की धूलि, फूलों का हार, ये तब बातें विषयानुरागियों को ही अत्यन्त आनन्ददायक हैं, विषय से पराङ्मुखजनों को नहीं ॥३४॥

तरुणी चैषा दीपितकामा विकसज्जातीपुष्पसुगन्धिः ।
उन्नतपीनपयोधरभारा प्रावृट् कुरुते कस्य न हर्षम् ॥३५॥

काम वासना को उत्तम करने वाली, खिले हुए फूलों से सुगन्धित, उभरे और पुष्ट पयोधर वाली सुन्दरी और नवयुवती के समान वर्षा ऋतु किसको आनन्द नहीं देती ॥३५॥

वियदुपचितमेघं भूमयः कन्दलिन्यो
नवकुटजकदम्बामोदिनो गन्धवाहाः ।
शिखिकुलकलकेकारावरम्या वनान्ताः
सुखिनमसुखिनं वा सवमुत्कण्ठयन्ति ॥३६॥

मेघाच्छन्न आकाश, नवीन अंकुरों वाली भूमि, नये खिले हुए मालती और कदम्ब के फूलों से सुगन्धित वायु, मयूरों की मधुर वाणी से सुन्दर वन प्रदेश आदि सुखी अथवा दुःखी सभी जनों की संभोग विषय की उत्कण्ठा को बढ़ाते हैं ॥३६॥

उपरि धनं घनपटलं तिर्यग्गिरयोऽपि नर्तितमयूराः
वसुधा कन्दलधवला दृष्टवा पथिकः क्व यातुसंत्रस्तः ॥३७॥

मस्तक पर मेघों की घनघोर घटा छाई है, चारों ओर मयूर नाच रहे हैं, भूमि भी नाना प्रकार के अंकुरों से स्वच्छ है, इस तरह कापोद्दीपक पदार्थों के सर्वत्र व्याप्त रहने पर विरही विचारा पथिक कहाँ जाय ? ॥३७॥

इतोतांविद्यु द्वल्लीविलसितमितः केतकितरोः ।
स्फुरद्गन्धः प्रोद्यज्जलदनिनदस्फूर्जितकितः ।
इतः केकीक्रीडाकलकलरवः पक्ष्मलदृशां
कथं यास्यन्त्येते विरहदिवसाः सम्भृतरसाः ॥३८॥

कहीं बिजलियों की चमक, तो कहीं केवड़े की सुगन्धि, कहीं मेघों की गर्जना तो कहीं मयूरों की क्रीड़ा का कलरव भला वताइये ऐसे कामोन्मादक समय में विरहणी स्त्रियों के दिन कैसे व्यतीत हो सकेंगे ? ॥३८॥

असूचीसञ्चार तमसि नभसि प्रौढजलदध्वनिप्राये
तस्मिन् पतित दृषदा नीरनिचये ।
इदं सौदामिन्याः कनककमनीयं विलसितं
मुदं च ग्लानिं च प्रथ..ति पथिष्वेव सुदृशाम् ॥३९॥

घनघोर अंधियारी छा जाने पर, मेघों की गम्भीर गर्जना के होते रहने पर पानी वरसते हुए में सुवर्ण के समान सुन्दर विजली की चमक अभिसारिका (व्यभिचारिणी) स्त्रियों को मार्ग दिखाई देने के कारण आनन्द और अपने आप प्रकट हो जाने के कारण दु:ख देती है ॥३९॥

आसारेण न हर्म्यत्तः प्रियतमैर्यातुं बहिः शक्यते
शीतोत्कम्पनिमित्तमायतदृशा गाढं समालिङ्ग्यते ।
जाताः शीतलशीकराश्च मरुतो रत्यन्तखेदच्छिदो
धान्यानां बत दुर्दिनं सुदिनतां याति प्रियासङ्गमे ॥४०॥

जिन दिनों में लगातार वृष्टि के कारण प्रियतम घर के बाहर नहीं निकल पाते, स्त्रियाँ जाड़े की अधिकता से अपने-अपने प्रियतमों का आलिगन किए रहती हैं, ठंडी-ठंडी हवा रति श्रम दूर किया करती है, ऐसे दुर्दिन भी प्रियतमा के साथ रहने पर जिनके लिए सुदिन होते हैं. वे पुरुष धन्य हैं ॥४०॥

अर्द्धं नीत्वा निशायाः सरभससुरतायासखिन्नश्लथाङ्गः
प्रोद्भूतासह्यतृष्णो मधुमदनिरतो हर्म्यपृष्ठे विविक्ते ।
सम्भोगाक्लान्तकान्ताशिथिलभुजलतावर्जितंकर्करातो
ज्योत्स्नाभिन्नाच्छधारंनपिबतिसलिलशारदंमन्दभाग्यः॥४१॥

आधी रात बीतने पर उत्सुकता पूर्वक किये हुए संभोग से शिथिल शरीर वाला, अत्यन्त प्यासा, शराब के नशे में चूर जो व्यक्ति संभोग श्रम से थकी हुई प्रियतमा द्वारा दिये गये चन्द्र-किरण के समान निर्मल सुराही के जल को शरद् ऋतु में पान करता है वह वड़ा पुण्यात्मा समझा जाता है ॥४१॥

हेमन्ते दधिदुग्धसर्पिरशना मञ्जिष्ठासोभृतः
काश्मीरद्रवसान्द्रदिग्धवपुषुः खिन्ना विचित्रैः रतैः ।
पीनोरःस्थलकामिनीकनकृताश्लेषा गृहाभ्यन्तरे
ताम्बूलीदलपूगपूरितमुखा धन्याः सुखं शेरते ॥४२॥

हेमन्त ऋतु में दही दूध और घी को खाने वाले, रंगे हुए कपड़ों को धारण करने वाले, शरीर में केशर का उबटन लगाने वाले विविध प्रकार की रति क्रीड़ा से थके हुए, उभरी छाती वाली कामिनियों से आलिगन किये गये और पान खाने में तत्पर वे लोग धन्य हैं जो बंद कमरे में निशंक होकर सोते रहते हैं॥४२॥

चुम्बन्तोगण्डभित्तारलकवतिमुखेसीत्कृतान्यादधानाः
वक्षः सूत्कञ्चुकेषु स्तनभरपुलकोद्भेदमापादयन्तः ।
ऊरूनाकम्पयन्तः पृथुजघनतटात्स्रंसयन्तोंऽशुकानि
व्यक्तं कान्ताजनानांविटचरितकृतः शैशिरावान्तिवाताः ॥४३॥

कामिनियों के कपोलों का चुम्बन करना, घुँघराले केशों से अलंकृत मुख में सीत्कार को उत्पन्न करना, चोली से वक्ष स्थल के कसे रहने पर भी स्तनों पर रोमांच भाव को पैदा करना, जंघाओं में गुदगुद द्वारा कम्पन पैदा करना, विशाल जंघा प्रदेश से पहने हुए वस्त्र की ग्रन्थी को ढीला करना आदि समस्त लंपटी मनुष्यों के चरित्र को करने वाली जाड़े के मौसम की हवा बह रही है ॥४३॥

केशानाकुलयन्दृमो मुकुलयन्वासो बलादाक्षिप-
न्नातन्वम्पुलकोद्गमं प्रकटयन्नुद्वेगकम्पं गतौ ।
वारं वारमुदारसीत्कृतवशाद्दन्तच्छादान्पीडयन्
प्रायः शैशिर एष सम्प्रति मरुतकान्तासु कान्तायते ॥४४॥

वालों को उड़ाती हुई, आँखों को बन्द करती हुई, पहनी साड़ी को बलपूर्वक उड़ाती हुई, रोमाँच को उत्पन्न करती हुई, शरीर में धीरे-धीरे कम्पन को पैदा करती हुई, मनोहर सीत्कार को करने वाले अधरोष्ठों को ठंड से पीड़ा देना वाली जाड़े के मौसम की हवा कामिनियों में कामी की तरह आचरण करती है ॥४४॥

अन्सारा सन्येते विरतिविरसायासविषया
जुगुप्सन्तां यद्वा ननु सकलदोषास्पदमिति ।
तथाप्यन्तस्तत्त्वे प्रणिहितधियामप्यतिबल
स्तदीयाऽनाख्येयः स्फुरति हृदयेकोऽपि महिमा ॥४५॥

प्रसिद्ध सभी सांसारिक विषय निःसार हैं, पाप के कारण हैं एवं समस्त दोषों के मूल हैं इसलिए परम सुख लाभ की इच्छा

से उनका परित्याग ही करना चाहिये। फिर भी किसी विषय में पुण्य है तो वह परहित में ही है, और इस संसार में यदि कोई रम्य वस्तु है तो वह कमल के समान नेत्र वाली सुन्दरी ही है ॥४५॥

भवन्तो वेदान्त प्रणिहितधियामाप्तगुरवो
विद धालापानां वयमपि कवीनामनुचराः।
तथाप्येतद्भूमौ नहि परहितात्पुण्यमाधिकं
न चास्मिन्संसारे कुवलयदृशस्त्वन्यमपरम् ॥४६॥

मैं यह जानता हूँ कि आप बड़े-बड़े वेदांतियों के गुरु हैं, पर हम भी मधुर रचना वाले कवियों के अनुचर हैं, फिर भी इस भूमि पर परोपकार से अधिक कोई पुण्य नहीं है और कमल-नयनी से बढ़कर कोई दूसरी वस्तु नहीं है ॥४६॥

किमिह बहुभिरुक्तैर्युक्तिशून्यैः प्रलापैर्द्वयमहि
पुरुषाणां सर्वदा सेवनीयम्।
अभिनवमदलीलालसं सुन्दरीणां
स्तनभरपरिखिन्नं यौवनं वा वनं वा ॥४७॥

अत्र इस विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है कि पुरुषों के लिए दो ही वस्तु सर्वदा सेवनीय हैं। जवानी के मद से तथा पुष्टस्तनों के भार से रमणीय प्रियतमा का यौवन अथवा वन ॥४७॥

सत्ययं जना वच्मि न पक्षपाताल्लोकेषु
सर्वेषु च तथ्यमेतत्।
नान्यमन्मनोहारि नितम्बिनीभ्यो
दुःखैकहेतुर्न च कश्चिदन्यः ॥४८॥

सज्जनो ! मैं पक्षपात से नहीं, अपितु सत्य कहता हूँ और सभी लोकों में यही सत्य है भी, कि सांसारिक समस्त सुखों की मूल कामनियों को छोड़कर ससार में न तो कोई दूसरी वस्तु सुखदायक है और समस्त झगड़ों की मूल उनको छोड़कर न कोई दूसरी वस्तु दुःखदायक ही है ।।४८।।

तावदेव कृतिनामपि स्फुरत्येष निर्मलविवेकदीपकः ।
यावदेव न कुरंगचक्षुषां ताड्यते चपललोचनाञ्चलैः ।।४९।।

तत्वज्ञानियों का तत्वज्ञान तभी तक प्रकाशित रहता है जब तक कि मृगनयनियों के चंचल नेत्र के अंचल की हवा उनको नहीं लगती ।।४९।।

वचसि भवति संगत्यागमुद्दिश्य वार्ता
श्रुतिमुखरमुखानां केवल पण्डितानाम् ।
जघनमरुणरत्नग्रन्थिकाञ्चीकलापं
कुवलयनयनानां को विहातुं समर्थः ।।५०।।

"स्त्री संग नहीं करना चाहिए" यह बात वेदाध्ययन करने वाले विद्वानों की केवल कहने ही के लिए है, पद्मराग मणिखचित करधनी वाली सुन्दरी को कौन छोड़ सकता है ? ।।५०।।

स्वपरप्रतारकोऽसौ निन्दति योऽलीकपण्डितो युवती ।
यस्मात्तपसोऽपि फलंस्वर्गस्तस्यापि फलंतथाप्सरसः ।।५१।।

जो स्त्रियों की निन्दा करता है वह झूठ बोलने में पंडित है और दूसरों को ठगने वाला है, क्योंकि जिस तप का फल स्वर्ग है उस स्वर्ग में भी उर्वशी और अप्सराओं से सम्बन्ध होता है ।।५१।।

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः ।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ॥५२॥

कुछ वीर मदमत्त गजराज को मारने में सिद्धहस्त हैं तो कुछ सिंह को मारने में परन्तु मैं दृढ़ता पूर्वक कह सकता हूँ कि कामदेव के घमण्ड को खण्डित करने वाला वीर शायद ही कोई होगा ॥५२॥

सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां
लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव ।
भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथगता नीलपक्ष्माण एते
यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति ॥५३ ।

मनुष्य तभी तक सन्मार्ग में अपने आप को रख सकता है, इन्द्रियों को भी तभी तक वश में रख सकता है, लज्जा और नम्रता भी उसकी तभी तक रह सकती है जब तक वह धैर्य को चुराने वाली कामिनियों के नेत्ररूपी बाणों से आहत नहीं होता ॥५३॥

उन्मत्तप्रमसंरम्भादारभन्ते यदंगना ।
तत्र प्रत्यूहमाधतुं ब्रह्मापि खलु कातरः ॥५४॥

स्त्रियाँ प्रेम में उन्मत्त होकर जिस काम को करने लग जाती हैं ब्रह्मा भी उन्हें उस काम से हटा नहीं सकता ॥५४॥

तावन्महत्वं पाण्डित्यं कुलीनत्वं विवेकिता ।
यावज्ज्वलति नाङ्गेषु हतः पञ्चेषुपावकः ॥५५॥

तभी तक वड़प्पन, पांडित्य, कुलीनता और भले वुरे का विचार हुआ करता है, जव तक हृदय में कामाग्नि की ज्वाला नहीं धधकती है ॥५५॥

शास्त्रज्ञोऽपि प्रथितविनयोऽप्यात्मबोधोऽपि बाढं
संसारेऽस्मिन्भवति विरलो भाजनं सद्गतीनाम् ।
येनतस्मिन्निरयनगरद्वारमुद्घाटय
वामाक्षीणां भवति कुटिला भ्रूलता कुञ्चिकेव ॥५६॥

शास्त्र का ज्ञान रहते हुए भी, नीतिशास्त्र का अच्छी तरह अध्ययन करने पर भी, विरला ही मनुष्य उत्तम गति को प्राप्त होता है, क्योंकि कामिनी की कुटिल भ्रूलता नरकरूपी नगर के द्वार को खोले हुए बैठी है ॥५६॥

कृशः काणः खञ्जः श्रवण रहितः पुच्छविकलो
व्रणी पूयक्लिन्नः कृमिकुलशतैरावृततनुः
क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरककपालार्पितगलः
शुनीमन्वेति श्वा हतमपि निहन्त्येव मदनः ॥५७॥

दुर्बल, काना, लंगड़ा, कनकटा, पूंछकटा, फोड़ों से भरा, पीव भरा, सैकड़ों कीड़ों से व्याप्त, भूख से व्याकुल, बूढ़ा, मिट्टी के घड़े में फंसे हुए गर्दन वाला भी कुत्ता कुत्ती के पीछे-पीछे लगा ही रहता है, ठीक ही है कामदेव मरे को भी मारता ही है ॥५७॥

स्त्रीमुद्रां मकरध्वजस्य परमां सर्वार्थसम्पत्करीं
ये मूढ़ाः प्रविहाय यान्ति कुधियो स्वर्गादिलोभेच्छया ।
ते तेनैव निहत्य निर्दतरं नग्नीकृता मुण्डिताः
केचित्पञ्चशिखीकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे ॥५८॥

समस्त कार्य और सम्पत्ति को देने वाली कामदेव की मुद्रा स्वरूप स्त्री को स्वर्गादि के लाभ की इच्छा से जो कुबुद्धि मूर्ख मनुष्य त्याग देते हैं अर्थात् विरक्त हो जाते हैं, उनको विरक्त वेश में न समझो किन्तु ऐसा समझो कि कामदेव ने ही उनके स्त्री त्याग से क्रुद्ध होकर निर्दयता पूर्वक उनमें से किसी को नङ्गा वना दिया, किसी को मुंडवा दिया, किसी को पाँच चोटी रखवा दी, किसी को जटाधारी बनवा दिया और किसी के हाथ खप्पर देकर भीख मँगवा दी ।।५८।।

विश्वामित्रपराशर प्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशनास्तेऽपि
स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः ।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवा—
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद्विन्ध्यस्तरेत्सागरम् ।।५९।।

जब कि वायु, जल और पत्तों को खाने वाले विश्वामित्र और पराशर जैसे महर्षि भी स्त्रियों के सुन्दर मुखकमल को देखते ही मोहित हो गये, इन्द्रियों का निग्रह न कर सके, तो दही, दूध और घी से युक्त अन्न को खाने वाले मनुष्यों को यदि इन्द्रिय निग्रह हो जाये तब यह समझने में कोई आश्चर्य नहीं है कि विन्ध्यपर्वत समुद्र पर तैर रहा है ।।५९।।

सिद्धाध्यासितकंदरे हरवृषस्कंधावगाढद्रुमे
गंगाधौतशिलातले हिमवतः स्थाने स्थिते श्रेयसि ।
कः कुर्वीत शिरः प्रणाममलिनं म्लानं मनस्वी जनो
यद्वित्रस्तकुरंगशावनयना न स्युः स्मरास्त्र स्त्रियः ।।६०।।

यदि संसार में भगवान् कामदेव का अस्त्र स्त्रियाँ न होतीं तो कौन मनस्वी पुरुष पुण्यभूमि हिमालय को, जिसकी कन्दराओं

में सिद्धगण रहा करते हैं, शंकर का वाहन बैल पेड़ों में कंधा रगड़ता रहता है और जहाँ के पत्थर गंगाजल से धुले रहते हैं, छोड़कर औरों के सामने सिर झुकाकर अपने मनको मलिन करता ॥६०॥

संसार ! तव पर्यंतपदवी न दवीयसी
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि ते मदिरेक्षणाः ॥६१॥

हे संसार ! तेरे पार करने का मार्ग कठिन न होता यदि बीच में कामिनीरूप बाधा न रहती ॥६१॥

राजनतृष्णाम्बुराशेर्नहि जगति गतः कश्चिदेवावसानं
को वार्थोऽर्थैः प्रभूतैः स्ववपुषि गलिते यौवने सानुरागे ।
गच्छामः सद्म तावद्विकशितनयनेन्दीवरालोकिनीनां
यावच्चाक्रम्पं रूपं झटिति न जरया लुप्यते प्रेयसीनाम् ॥६२॥

हे राजन् ! इस संसार में कोई तृष्णारूपी समुद्र को पार नहीं कर सका है, इसलिए धन लिप्सा व्यर्थ है और अनुराग भरी जवानी जब शरीर में ही विलीन हो जाती है तब अधिक धन पैदा करने का भी क्या प्रयोजन है ? इसलिए सबसे अधिक महत्व यौवन का ही है, वृद्धावस्था कहीं कमल के समान नेत्र वाली प्रियतमा के सौन्दर्य को नष्ट न कर दे इस कारण हम अभी घर जाते हैं ॥६२॥

रागस्यागारमेकं नरकशतमहादुःखसम्प्राप्तिहेतु—
र्मोहस्योत्पत्ति बीजं जलधरपटल ज्ञानताराधिपस्य ।
कन्दर्पस्यैकमित्रं प्रकटितविविधस्पष्टदोषंप्रबन्धं
लोकेऽस्मिन्नह्यनर्थंव्रजकुलभवनंयौवनादन्यदस्ति ॥६३॥

इस लोक में यौवन को छोड़कर दूसरा कोई अनर्थों की उत्पत्ति का स्थान नहीं है। यह समस्त झगड़े के मूलभूत प्रेत का एकमात्र स्थान है, नरकों में प्राप्त होने वाले असह्य दुःखों का मूल कारण है, मोह की उत्पत्ति का वीज है, ज्ञानरूपी चन्द्रमा को ढांकने वाला मेघ है, कामदेव का अद्वितीय मित्र है और अनेक प्रकार के दोषों को प्रकट करने वाला है ॥६३॥

शृङ्गारद्रुमनीरदे प्रचुतरतः क्रीडारसस्रोतसि
प्रद्युम्नप्रियबान्धवे चतुरतामुक्ताफलोदन्वति।
तन्वीनेत्रचकोरपारणविधौ सौभाग्यलक्ष्मीनिधौ
धन्यःकोऽपि न विक्रियां कलयति प्राप्ते नवे यौवने ॥६४॥

जहाँ शृंगार रूपी वृक्षों को सींचने वाला, काम के लिए रस को वहाने वाला, कामदेव का प्रियवन्धु, चातुर्यरूप मोतियों का समुद्र, कामिनियों के नेत्ररूपी चकोरों का चन्द्रमा, सौन्दर्य लक्ष्मी का खजाना आदि विषय सुलभ हैं, वहाँ नौजवानी के प्राप्त होने पर भी जिसको कामविकार नहीं होता, वह पुरुष धन्य है ॥६४॥

स्मृता भवति तापाय दृष्टा चोन्मादवर्धिनी।
स्पृष्टा भवति मोहाय सा नाम दयिता कथम् ॥६५॥

जो स्त्री स्मरण करने मात्र से सन्ताप देती है, देखने पर पागल बना देती है, स्पर्श करने पर मोहित कर देती है, वह प्रिया कैसे हो सकती ? ॥६५॥

तावद्देवीमृतमयी यावल्लोचनगोचरा।
चक्षःपथादपगता विषादप्यतिरिच्यते ॥६६॥

स्त्री जब तक सामने है तभी तक अमृत के समान आनन्द देती है, आँखों की ओट में हो जाने पर वही विरह के कारण विष से भी अधिक दुःखदायक हो जाती है ॥६६॥

नामृतं न विषं किञ्चिदेकां मुक्त्वा नितम्बिनीम् ।
सैवामृतलता रक्ता विरक्ता विषवल्लरी ॥६७॥

प्रियतमा को छोड़कर न तो कोई अमृत है और न कोई विष पदार्थ ही है, क्योंकि अनुरक्त हो जाने पर प्रियतमा ही अमृत लता के समान आनन्द देती है और वही विरक्त हो जाने पर विष की मंजरी हो जाती है ॥६७॥

आवर्तः संशयानामविनयभवनं पत्तनं साहसानां
दोषाणां सन्निधानं कपटशतमयं क्षेत्रमप्रत्ययानाम् ।
स्वर्गद्वारस्य विघ्नो नरकपुरमुखं सर्वमायाकरण्डं
स्त्रीयन्त्रं केन सृष्टं विषममृतमयंप्राणिनांमोहपाशः ॥६८॥

प्राणियों के लिए गले के फंदे की तरह विष तथा अमृत रूप इस स्त्री रूपी यन्त्र को किसने बनाया ? जो समस्त संशयों का एकमात्र स्थान, अविनय का घर, साहस का नगर, दोषों का खजाना, सैकड़ों प्रकार के कपटों और अविश्वासों का खेत, स्वर्ग का विघ्न, नरकपुर का द्वार और हर तरह की माया की पिटारी है ॥६८॥

सत्यत्वे न शशाङ्क एषं वदनीभूतो न चेन्दीवरद्वन्द्वं
लोचनतां गतं न कनकैरप्यङ्गयष्टिः कृता ।
किन्त्वेवं कविभिः प्रतारितमनास्तत्त्वे विजानन्नपि
त्वङ्मांसोस्थिमयं वपुर्मृगदृशां मन्दोजनः सेवते ॥६९॥

यदि सचमुच देखा जाय तो स्त्रियों का मुख न तो चन्द्रमा है, न तो इनकी आँखें कमल हैं और न तो इनकी देह ही सुवर्ण है, इस यथार्थ वस्तु को जानते हुए भी कवियों द्वारा बहकाये हुए मन्दमति पुरुष चाम, मांस और हड्डी से बने स्त्रियों के शरीर का सेवन करते हैं ।।६९।।

लीलावतीना सहजा विलासा
स्त एव मूढस्य हृदि स्फुरन्ति ।
रागी नलिन्या हि निसर्गसिद्धि
स्तत्रभ्रमत्येव मुधा षडङ्घ्रि ।।७०।।

मूर्ख मनुष्य सुन्दरी स्त्रियों के प्राकृत हाव-भावों को भी 'ये हमारे ही लिए इसने किये हैं' ऐसा समझ कर व्यर्थ ही उन पर मोहित होता है । कमलिनी की ललाई स्वाभाविक है, पर भ्रमर उसे अपने लिये बनी समझकर व्यर्थ ही आसक्त होता है और उस पर चक्कर काटा करता है ।।७०।।

जल्पन्ति सार्द्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रामः ।
हृदये चिन्तयन्त्यन्यंप्रियः को नाम योषिताम् । ७१।।

स्त्रियों का यथार्थ में कोई प्रिय नहीं है, ये किसी से बातें करती हैं, तो किसी और को ही विलास भरी दृष्टि से देखती हैं और हृदय में किसी और को ही चाहा करती हैं ।।७१।।

मधु तिष्ठति वाचि योषितां हृदहालाहलमेवकेवलम् ।
अत एव निपीयतेऽधरो हृदयं मुष्टिभिरेव ताड्यते ।।७२।।

स्त्रियों की वाणी में मधु और हृदय में केवल विष रहा करता है। इसलिए इनका अधरपान किया जाता है और हृदय, स्तन मर्दन के बहाने मुट्ठियों से ताड़ित किया जाता है ॥७२॥

अपसर सखे दूरादस्मात्कटाक्षविषानलात्
प्रकृतिविषमाद्योषित्सर्पाद्विलासफणाभृतः ।
इतरफणिना दष्टाः शक्याश्चिकित्सितुमौषधै—
श्चतुरवनिताभोगिग्रस्तंत्य जन्तिहिमंत्रिणाः ॥७३॥

हे मित्र ! कटाक्षरूपी विषाग्नि को धारण करने वाले स्वभाव से ही भयंकर विलासरूपी फण वाले स्त्रीरूपी सर्प से दूर भागो क्योंकि संसार प्रसिद्ध सर्पों से काटे हुए लोग औषधि से अच्छे किये जा सकते हैं पर स्त्रीरूपी सर्प से काटे हुए लोग अच्छे नहीं किये जा सकते ॥७३॥

विस्तारितं मकरकेतनधीवरेण
स्त्रीसंज्ञितं बडिशमत्र भवाम्बुराशौ ।
येनाचिरात्तदधरामिषलोलमर्त्य
मत्स्यान्विकृष्य पचतीत्यनुरागवह्नौ ॥७४॥

इस संसाररूपी समुद्र में कामदेवरूपी केवट ने स्त्रीरूपी जाल को फैलाया है, जिसमें वह उसके अधर पल्लवरूपी मांस के लोभी मनुष्यरूपी मछलियों को पकड़कर प्रेमरूपी अग्नि में पकाया करता है ॥७४॥

कामिनीकायकान्तारे कुचपर्वतदुर्गमे ।
मा सञ्चर मनःपान्थ तत्रास्ते स्मरतस्करः ॥७५॥

हे मनरूपी पथिक ! तू स्तनरूपी पर्वतों से अति दुर्गम कामनियों के शरीररूपी वन में संचार न कर, क्योंकि वहाँ कामरूपी चोर है, जो तुझे लूट लेगा ।।७५।।

व्यादीर्घेण चलेन वक्रगतिना तेजस्विना भोगिना
नीलाब्जद्युतिनाऽहिना वरमहं दष्टो न तच्चक्षुषा ।
दष्टे सन्तिचिकित्सका दिशिदिशि प्रायेण धर्मार्थिनो
मुग्धाक्षीक्षणवीक्षितस्य नहि मे वैद्यो न चाप्यौषधम् ।।७६।।

वहुत लम्बे, चंचल और टेढ़ी चाल वाले, तेजस्वी सर्प से काटा गया मैं अपने को अच्छा समझता हूँ, किन्तु कामिनी के कटाक्ष से मारा जाना अच्छा नहीं समझता क्योंकि साँप से काटे हुए को बचाने वाले वैद्य प्रायः सभी दिशाओं में मिलते हैं, किन्तु कामिनी के नेत्र से मारे गये मुझको बचाने के लिए न तो कोई वैद्य है और न कोई औषधि ही है ।।७६।।

जात्यन्धाय च दुर्मुखाय च जराजीर्णाखिलाङ्गाय च
ग्रामीणाय च दुष्कुलाय च गलत्कुष्ठाभिभूताय च ।
यच्छन्तीषु मनोहरं निजवपुर्लक्ष्मीलवश्रद्धया
पण्यस्त्रीषु विवेकल्पलतिकाशस्त्रीषु रज्येतकः ।।७७।।

विवेकशील कौन पुरुष ऐसी वेश्याओं में रमण करेगा, जो जन्म से अंधे, कुरुप, वृद्धावस्था से शिथिल शरीर वाले, गँवार, नीच जाति वाले और गलित कुष्ठ वाले पुरुष को थोड़े से धन के लोभ में अपने मनोरम शरीर को समर्पण कर देती है और सदसद्विवेक को काटने के लिए सदा प्रस्तुत रहा करती है ।।७७।।

वेश्यासौ मदनज्वाला रूपेन्धनसमेधिता ।
कामिभिर्यत्र हूयन्ते यौवननानि धनानि च ॥७८॥

यह वेश्या सौन्दर्यरूपी इंधन से प्रज्वलित कामाग्नि की ज्वाला है, जिसमें कामी जन अपने धन और यौवन दोनों का होम किया करते हैं ॥७८॥

कश्चुम्बति कुलपुरुषो वेश्याधरपल्लवं मनोज्ञमपि ।
चारभटचोरचेटकविटनट निष्ठिविनशरावम् ॥७९॥

वेश्याओं का अधर पल्लव जो गुप्त पुरुषों, लड़कों, चोरों, वेश्याओं के दलालों, जारों और नटों द्वारा चुम्बन से उच्छिष्ट होकर अपवित्र और पीकदान की तरह बन चुका है, उसको कौन ऐसा कुलीन व्यक्ति है जो चुम्बन करता हो ॥७९॥

धान्यास्त एव तरलायतलोचनानां
तारुण्यरूपधनपीनपयोधराणाम्
क्षामोदरोपरिलसत्त्रिवलीलतानां
दृष्टवाकृति विकृतिमेति मनो न येषाम् ॥८०॥

वे नर धन्य हैं जिनका मन चंचल नेत्र वाली, पुष्ट स्तनों वाली, कृश उदर पर उत्पन्न हुई त्रिवली से शोभायमान तरुणी सुन्दरी को देखकर विकार को प्राप्त नहीं होता ॥८०॥

बाले लालामुकुलितमयी सुन्दरा दृष्टिपाताः
किं क्षिप्यन्ते विरम विरम व्यर्थ एष श्रमस्ते ।
सम्प्रत्यन्ते वयमुपरतं काल्यमास्था वनान
क्षीणेमोहस्तृणमिव जगज्जालमालोकयामः ॥८१॥

हे सुन्दरी ! अपने भावों को प्रकट करने वाले अधखिले और सुन्दर कटाक्षों को फेंक रही हो ? छोड़ दे, छोड़ दे, यह परिश्रम व्यर्थ है। क्योंकि अब हम कुछ और ही हो गये हैं, अब मेरी लड़कई समाप्त हो चुकी, अब तो जंगल में रहने की श्रद्धा है, मोह (प्रेम) हृदय से जाता रहा, इस संसार रूपी जाल को तृण की तरह निस्तत्व समझते हैं ॥८१॥

इयं बाला मां प्रत्यनवरतमिन्दीवरदलप्रभाचोरं
चक्षुः क्षिपति किमभिप्रेतमनया ।
गतो मोहोऽस्माकं स्मरशबरबाण व्यतिकर—
ज्ज्वलज्वालाः शान्तारतदपि न वराकी विरमति ॥८२॥

यह तरुणी नील कमल के समान अपने नेत्रों को निरन्तर मुझपर फेंकती है, इसमें इसका क्या अभिप्रय है, समझ में नहीं आता। यदि वह अपने प्रेम का पात्र मुझे बनाना चाहती है तो उसका यह प्रयत्न व्यर्थ है, क्योंकि हमारा मोह अब समाप्त हो चुका, कामदेव रूपी भिल्ल के बाणों से उत्पन्न धधकती हुई अग्नि शान्त हो चुकी है, फिर भी यह बाला अपने व्यापार से बाज नहीं आती ॥८२॥

शुभ्रं सद्म सविभ्रमा युवतयः श्वेतातपत्रोज्वला
लक्ष्मीरित्यनुभूयते स्थिरमिव स्फीते शुभे कर्मणि ।
विच्छिन्न नितरामनङ्गकलहक्रीडात्रटत्तन्तुकं
मुक्ताजालमिव प्रयाति झटितिभ्रश्यद्दिशो दृश्यताम् ॥८३॥

जब मनुष्य के पुण्य का उदय होता है तभी आलीशान भवन, हाव-भाव पूर्ण तरुणी, श्वेच्छत्र से युक्त लक्ष्मी आदि का भोग उसे प्राप्त होता है और, पुण्य के नष्ट हो जाने पर प्राप्त समस्त

सम्पत्ति काम के लिए कलह से टूटे हुए हार के मोतियों की तरह, नष्ट-भ्रष्ट होकर तितर-बितर हो जाती है ॥८३॥

यदा योगाभ्यासव्यसनकृशयोरात्ममनसो—
रविच्छिन्ना मैत्री स्फुरति यमिनस्तस्य किमुतैः ।
प्रियाणामालापैर धरमधुभिर्वक्त्रविधुभिः
सनिश्वासामोदैः सकुचकलशाऽऽश्लेषसुरतैः । ८४॥

योगाभ्यास की लगन में आसक्त जिस महापुरुष की आत्मा और मन की मैत्री निरन्तर जागरूक रहा करती है, इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाले उस योगीमहापुरुष को स्त्रियों के मधुर भाषण, अधरामृत के पान, मुखचन्द्र का चुम्बन और स्तनों के आलिंगन से युक्त सम्भोग आदि से क्या प्रयोजन ? ॥८४॥

किं कन्दर्प करं कदर्थयसि किं कोदण्डटङ्कारितं
रे रे कोकिल कोमलं कलरवं किं त्वं वृथा वल्गसे ।
मुग्धे स्निग्धविदग्धमुग्धमधुरैर्लोलैः कटाक्षैरलं
चेतश्चुम्बितचन्द्रचूडचरणध्यानामृतं वर्तते । ८५॥

हे कामदेव ! धनुष के टंकार से अपने वाणों को क्यों व्यर्थ बना रहे हो ? रे कोकिल ! कामोन्मादक मधुर शब्दों का उच्चारण क्यों कर रहे हो ? हे सुन्दरी ! प्रेम रस से भरे तेरे सुन्दर कटाक्ष अब व्यर्थ हैं, क्योंकि मेरा मन भगवान् शंकर के चरणों के ध्यान रूपी अमृत में मग्न है ॥८५॥

यदासीदज्ञानं स्मरतिमिरसञ्चारजनितं
तदा सर्वं नारीमयमिदमशेषं जगदभूत् ।

इदानीमस्माकं पटुतरविवेकाञ्जनदृशां
समीभूता दृष्टिस्त्रिभुवनमपि ब्रह्म मनुते ।।८६।।

जिस समय कामरूपी अन्धेरे के कारण मनुष्य अज्ञान में डूबा रहता था उसको सारा जगत स्त्रीमय दिखाई पड़ता था, परन्तु विवेकरूपी अञ्जन के लगाने से जब उसकी दृष्टि सम हो गई तब उसको सारा त्रैलोक्य ब्रह्ममय दिखाई देने लगा ।।८६।।

वैराग्ये सञ्चरत्येको नीतौ भ्रमति चापरः ।
शृङ्गारे रमते कश्चिद् भुवि भेदाः परस्परम् ।।८७।।

कोई पुरुष वैराग्य में अनुरक्त है तो कोई नीति मार्ग में विचरता है, कोई शृंगार रस में ही रमता रहता है। इस तरह पृथ्वी पर मनुष्य परस्पर भिन्न-भिन्न रुचि के हुआ करते हैं ।।८७।।

यद्यस्य नास्ति रुचिरं तस्मिंस्तथा स्पृहा मनोज्ञेऽपि ।
रमणीयेऽपि सुधांशौ न मनः कामाः सरोजिन्यः ।।८८।।

जो वस्तु जिसको प्रिय नहीं है, उसके सुन्दर होने पर भी उसकी प्राप्ति की इच्छा उसे कभी उत्पन्न नहीं होती। चन्द्रमा परम सुन्दर होने पर भी कमलिनी कभी उसको नहीं चाहती ।।८८।।

अजितात्मसु सम्बद्धः समाधिकृतचापलः ।
भुजगकुटिलः स्तब्धो भ्रूविक्षेपः खलायते ।।८९।।

इन्द्रियों के आधीन रहने वाले मनुष्यों से सम्बन्ध रखने वाला, समाधि से अधिक चंचल, सर्प के समान कुटिल और अवसर पड़ने पर स्तब्ध रहने वाला स्त्रियों का कटाक्ष, खल मनुष्यों का आचरण करता है ॥८९॥

सुधामयोऽपि क्षयरोगशान्त्यै नासाग्रमुक्ताफलकच्छलेन ।
अनङ्गसञ्जीवनदृष्टिशक्तिर्मुखामृतं ते पिबतीव चन्द्र ॥९०॥

हे सुन्दरी ! अमृतमय चन्द्रमा भी जो कामदेव को जीवन दान करने की शक्ति रखता है, क्षय रोग की शान्ति के लिए नाक में लटकते हुए मोती के बहाने तेरे अधर रूपी अमृत को पीता है। (आयुर्वेदिक चिकित्सा में क्षयरोग में मोती खिलाना प्रसिद्ध है) ॥९०॥

किं गतेन यदि सा न जीवति
प्राणिति प्रियतमा तथापि किम् ।
इत्युदीक्ष्य नवमेघमालिकां
न प्रयाति पथिकः स्वमन्दिरम् ॥९१॥

वह मेरी प्रियतमा विरह दुःख में यदि प्राण त्याग चुकी हो अथवा किसी उपाय से केवल श्वासोच्छ्वास ले रही हो तो भी मेरा जाना व्यर्थ ही है, ऐसा समझकर पथिक नवीन मेघमाला को देखकर घर न जाकर विरक्त हो जाता है ॥९१॥

इह हि मधुरगीतं नृत्यमेतद्रसोऽयं
स्फुरति परिमलोऽसौ स्पर्श एष स्तनानाम् ।
इति हतपरमार्थैरिन्द्रियैर्भ्राम्यमाणो
ह्यहितकरणदक्षैः पंचभिर्वञ्चतोऽस्मि ॥६२॥

इस संसार में कानों को आनन्द देने वाला गान, नेत्रों को आनन्द देने वाला नाट्य, जिह्वा को देने वाला अधरामृत, सुख घ्राणेन्द्रिय को तृप्त करने वाला सुगन्ध, त्वगिन्द्रिय को परमानन्द देने वाला स्तनस्पर्श इस तरह परमपुरुषार्थ से भ्रष्ट करने वाले धूर्त पाँच इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने विषयों में फंसाया जाकर मैं ठगा गया ॥६२॥

न गम्यो मंत्राणां न च भवति भेषज्यविषयो
न चापि प्रध्वंसं व्रजति विविधैः शान्तिकशतैः ।
भ्रमावेशादंगे किमपि विदधद्भङ्गमसकृत्
स्मरापस्मारोऽयं भ्रमयति दृशं घूर्णयति च ॥६३॥

कामदेवरूपी यह अपस्मार (मृगी रोग) मन में मोह उत्पन्न कर मतिभ्रंश करता है और उससे उन्माद अवस्था को प्राप्त होकर हाथ पैरों को पटका करता है, आँखों को चक्र की तरह किसी एक जगह स्थिर नहीं रखता । इसमें न मंत्र की गति है न औषधियों की ही, भिन्न-भिन्न प्रकार की शान्ति से भी कुछ मतलब नहीं निकल पाता ॥६३॥

संसारऽस्मिन्नसारे कुनृपतिभुवनद्वारसेवाकलङ्क—
व्यासङ्गव्यस्तधैर्यं कथममलधियो मानसं संविदध्युः ।
यद्यता प्रोद्यदिन्दुद्युतिनिचयभृतो न स्युरम्भोजनेत्राः
प्रङ्खत्काञ्चीकलापाः स्तनभरविनमन्मध्यभागास्तरुण्यः ॥९४॥

इस निस्तत्त्व संसार में निर्मल विचार वाले लोग भी अधीर चित्त होकर दुष्ट राजाओं की सेवा में कैसे उपस्थित होते यदि उदीयमान चन्द्रमा की कांति के समान तथा कमल सदृश्य नेत्रवाली, स्तनों के भार से कुछ-कुछ झुके हुए मध्यमान वाली स्त्रियाँ न होतीं ॥९४॥

दिश वनहरिणेभ्यो वंशकाण्डच्छवीनां
कवलमुपलकोटिच्छिन्नमूलं कुशानाम् ।
शुकयुवतिकपोलापाण्डुताम्बूलवल्ली—
दलमरुणनखाग्रैः पाटितं वा वधूभ्यः ॥९५॥

हे मनुष्यो ! आप लोग जंगली हरिणों को खाने के लिए हरे-हरे कुशों के ग्रासों को दो, अथवा अपनी प्रियतमाओं के लिए नखों से तोड़े हुए शुक युवतियों के समान पाण्डु वर्ण वाले अच्छे-अच्छे ताम्बूल के पत्ते दो। अर्थात् विरक्त होकर जंगल चले जाओ या अनुरक्त हो संसार का आनन्द लो ॥९५॥

उन्मीलत्त्रिवलीतरङ्गनिलया प्रोत्तुङ्गपीनस्तन—
द्वन्द्वेनोद्यतचक्रवाकमिथुना वक्त्राम्बुजोद्भासिनी ।

कान्ताकारधरा नदीयमभितः क्रूराऽत्र नापेक्षते
संसारार्णवमज्जनं यदि ततोदूरेण संत्यज्यताम् ॥९६॥

यदि संसाररूपी समुद्र में स्नान करना नहीं चाहते हो तो स्त्रीरूपी नदी को दूर ही से त्याग दो, जिसमें उदर की त्रिवली ही लहरें हैं, पुष्ट और उभरे हुए दोनों स्तन ही चक्रवाक हैं और मगर घड़ियाल आदि क्रूर जीव रहा करते हैं ॥९६॥

मत्तेभकुम्भपरिणाहिनि कुंकुमार्द्रे
का:तापयोधरतटे रतिखेदखिन्नः ।
वक्षो निधाय भुजपञ्जरमध्यवर्त्ती
धन्यः क्षपां क्षपयति क्षणलब्धनिद्राः ॥९७॥

जो पुरुष संभोग से उत्पन्न थकावट को दूर करने के लिए अपने वक्षस्थल को उन्मत्त हाथी के गण्डस्थल के समान विस्तीर्ण और केशर से आर्द्र कान्ता के स्तनों पर रख कर तथा उसके वाहुपाश में अपने आप को डालकर क्षणमात्र निद्रा प्राप्त करता है वह धन्य है ॥९७॥

यदेतत्पूर्णेन्दुद्युतिहरमुदाराकृतिवरं
मुखाब्जं तन्वंग्याः किल वसति त्रयाधरमधु ।
इदं तावत्पाकद्रुमफलमिवातीव विरसं
व्यतीतेऽस्मिन्काले विषमिव भविष्यत्यसुखदम् ॥९८॥

कान्ता का मुख कमल पूर्णचन्द्र की कान्ति को हरने वाला है, जहाँ अधरों में अमृत रहा करता है परन्तु यही अमृत जवानी

ढल जाने पर मदार के फल के समान नीरस और विष की तरह दुखदायी होता है ॥६८॥

कान्तेत्युत्पललोचनेति विपुल श्रोणीभरेत्युत्सुकः
पीनोतुंगपयोधरेति सुमुखाम्भोजेति सुभ्रूरिति ।
दृष्ट्वा माद्यति मोदतेऽभिरमते प्रस्तौति जानन्नपि
प्रत्यक्षाशुचिपुत्रिकां स्त्रियमहो मोहस्य दुश्चेष्टितम्॥६६॥

विद्वान पुरुष, स्त्री को अपवित्रता की पुतली जानते हुए भी उसे देखकर उन्मत्त होता है, आनन्दित होता है, प्रेम करता है और कमल के समान नेत्र वाली, ड़े-वड़े नितम्बवाली, उभरे हुए पुष्ट स्तनों वाली, सुन्दर भौहों वाली आदि कह-कहकर स्तुति किया करता है ॥६६॥

॥ श्रृङ्गार शतक समाप्तम् ॥

मां गंगा

अतीत के गौरव से

आज की प्रतिष्ठा तक

गंगा की महिमा, गंगा और भीष्म पितामह, गंगा अवतरण, गंगा का उद्‌गम, गंगा आगमन, गंगोत्री और गौमुख यात्रा, श्री गंगा अष्टकम्, श्री गंगा स्तुति, श्री गंगा चालीसा, श्री गंगा लहरी, पद्म पुराण में गंगा महात्म्य, स्कन्द पुराण में गंगा महिमा, एवं आरती वंदना आदि से सुसज्जित।

चाणक्य नीति दर्पण

(हिन्दी अनुवाद सहित)

नीति शास्त्र वेत्ता आचार्य चाणक्य की इस जगत प्रसिद्ध रचना से कौन परिचित नहीं ? नीति निपुण बनाने में सर्व प्रसिद्ध संस्कृत ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद सहित।

श्री विष्णु सहस्रनाम

(भाषा–टीका)

घट-घट के वासी, चराचर के स्वामी भगवान विष्णु का स्तोत्र, जो महाभारत ग्रन्थ में श्री वेदव्यास जी ने लिखा है। मूल संस्कृत और हिन्दी अनुवाद के साथ-साथ प्रत्येक नाम की व्याख्या सहित। पुस्तक के अन्त में भगवान विष्णु के १००० नामों की गणना भी दी गई है।

रणधीर बुक सेल्स (प्रकाशन), हरिद्वार

सचित्र भर्तृहरि शतक

इस भर्तृहरि शतक की महानता किसी भी तरह से गीता और रामायण से कम नहीं है। परन्तु महानता और बात है प्रसिद्धि कुछ और! वास्तविकता तो यह है कि महाकवि कालीदास न होते तो विक्रमादित्य को कौन जानता और महर्षि बाल्मीकि न होते तो राम का नाम कौन लेता ? लेकिन राजाओं और धनवानों के साथ-साथ विद्वानों को भी जिसने लताड़ा हो उस भर्तृहरि के नाम को कौन उजागर करता ?…………

…………वैराग्य की प्रवृत्ति मानव मात्र के लिए स्वर्गारोहण और अमृतपान का आह्वान है—

कौन है जो अमृतपान के लिए लालायित न हो ?

कौन है जो सौन्दर्य पर मुग्ध न हो ?

स्वर्ग की लालसा लेकर आकाश में उड़ो या सौन्दर्य का भ्रम लेकर संसार का भ्रमण करो पर ध्यान रहे कि पांव नैतिकता से डिगे नहीं। नीति से गिरे नहीं कि संसार और स्वर्ग दोनों से हाथ धोना पड़ेगा…………।

…………गीता और उपनिषद् युवकों को प्रेरणा नहीं दे सकते लेकिन भर्तृहरि शतक उद्रेक पूर्ण युवा हृदय में सीधा प्रवेश करता है और उन्हें पुरुषार्थ की प्रेरणा दे सकता है।

रणधीर बुक सेल्स हरिद्वार